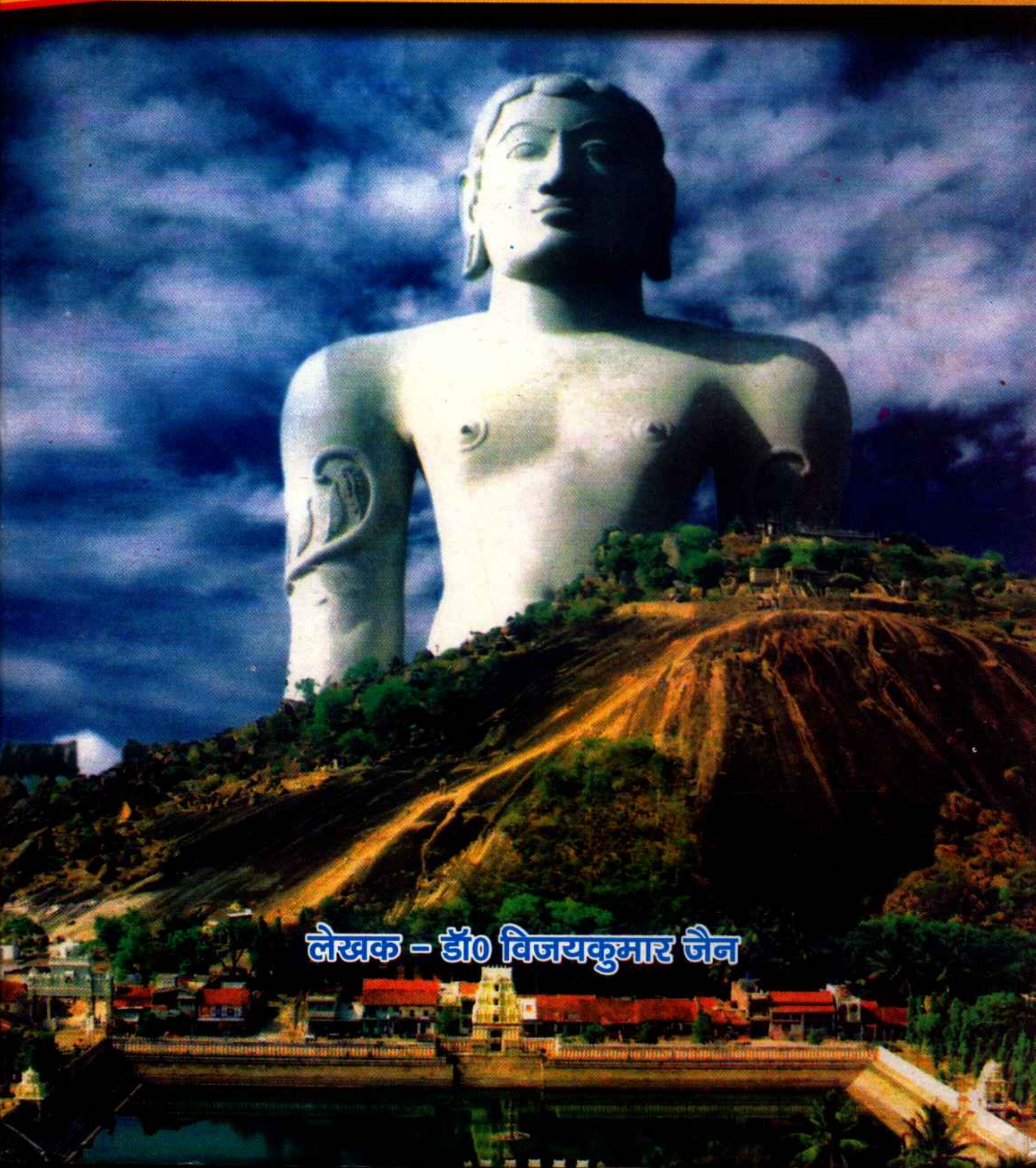
पालि एवं प्राकृत विद्या

एक तुलनात्मक अध्ययन



लेखक - डॉ० विजयकुमार जैन

ग्रन्थ के सन्दर्भ में

प्राचीन भाषा पालि एवं प्राकृत में बौद्ध एवं जैन विद्या सुरक्षित है। दोनों में साम्य दिखाई देने पर भी इनका अपना-अपना वैशिष्ट्र्य है। लेखक ने इन दोनों परम्परा के प्रमुख पारिभाषिक शब्दों की गहन तुलना करने का प्रयास किया है।

इस लघु ग्रन्थ में प्रारम्भिक चरण में पालि एवं प्राकृत भाषा एवं काव्य की तुलना की गई है। दोनों परम्पराओं के पारिभाषिक शब्दों का वैशिष्ट्र्य तथा जैन एवं बौद्ध परम्परा में सैद्धान्तिक समानता निरूपित की गई है। भगवान महावीर और बुद्ध के व्यक्तित्व पर तथा प्रमुख शब्दों पर विस्तार से तुलना की गई है। सम्यक्‌दृष्टि, निर्ग्रन्थ का विवेचन, कर्म सिद्धान्त, समाधि एवं समाधिमरण, अहिंसा, तप, योग, प्रमाण, निर्वाण एवं अर्हन्त आदि शब्दों को समाहित किया गया है।

अत्यन्त सरल एवं सुबोध शैली में गागर में सागर भरने का सफल प्रयास किया गया है।

पालि एवं प्राकृत विद्या

एक तुलनात्मक अध्ययन

पालि एवं प्राकृत विद्या

एक तुलनात्मक अध्ययन

भूमिका

प्रोफेसर दयानन्द भार्गव

लेखक

डॉ. विजयकुमार जैन

प्रवाचक, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान

(मानित विश्वविद्यालय)

गोमती नगर, लखनऊ (उत्तर प्रदेश)

मैत्री प्रकाशन, लखनऊ





भगवान गोम्मटेश्वर बाहुबली मूर्ति के महामस्तकाभिषेक एवं भगवान बुद्ध के २५५०वें निर्वाणोत्सव के उपलक्ष्य में प्रकाशित

पालि एवं प्राकृत विद्या
एक तुलनात्मक अध्ययन

© लेखक - डॉ. विजयकुमार जैन
प्रकाशिका - डॉ. राका जैन
मैत्री प्रकाशन
3/65, विकास खण्ड
गोमतीनगर,
लखनऊ-226010
मूल्य - 200/- सजिल्द
150/- अजिल्द
प्रथम-संस्करण- 2006

Pali Evam Prakrit Vidya
Ek Tulnatmak Adhyayan

© **Author** - Dr. Vijay Kumar Jain
Publisher - Dr. Raka Jain,
Maitree Publication
3/65, Vikas Khand,
Gomti Nagar,
Lucknow-226010

Price - Rs. 200/- hard bond
Rs. 150/- Paper bond

First Edition - 2006
Printed by - Mahaveer Press,
Aliganj (Etah)

भूमिका

डॉ. विजय कुमार जैन श्रमण परम्परा के उदीयमान तरुण अध्येता हैं। आज हम जिसे भारतीय संस्कृति कहते हैं वह वैदिक परम्परा और श्रमण परम्परा का गंगा यमुना संगम है। वैदिक परम्परा में तीन धाराएं हैं-कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। ब्राह्मण ग्रन्थ कर्मकाण्ड प्रधान हैं, आरण्यक उपासना प्रधान हैं और उपनिषद ज्ञान प्रधान हैं। कर्मकाण्ड का परिष्कृत रूप गीता के कर्मयोग में उपलब्ध होता है, उपासना का विस्तार भक्ति आन्दोलन के रूप में हुआ और ज्ञान का चरम उत्कर्ष आचार्य शंकर के वाङ्मय में परिलक्षित होता है।

उपरोक्त तीनों धाराओं के विकास में एक बात स्पष्ट प्रतीति में आती है कि श्रमण परम्परा की निवृत्तिप्रधान दृष्टि का वैदिक परम्परा की प्रवृत्ति प्रधान दृष्टि से जाने अनजाने में समन्वय हो गया है। उदाहरणतया गीता में स्थितप्रज्ञ के विवरण में और श्रमण परम्परा के आदर्श साधु के विवरण में अद्‌भुत समानता है। श्रमण परम्परा के प्रभाव को परम्परा ने यह कहकर रेखांकित भी कर दिया है कि आचार्य शंकर अर्ध-वैनाशिक या प्रच्छन्न बौद्ध हैं। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि भारतीय संस्कृति को ठीक समझने के लिए श्रमण संस्कति का हृदय समझना भी आवश्यक है।

बौद्धकाल में श्रमण संस्कृति की अनेक धाराएँ थी, जिनमें आजतक दो निरन्तर प्रवाहित हो रही हैं। शेष विलुप्त हो गईं। यह दो धाराएँ हैं-बौद्धधर्म दर्शन एवं जैन धर्म दर्शन। सामान्य अध्येताओं को इन दो धाराओं में कोई विशेष अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता किन्तु वस्तुतः ये दोनों धाराएं अपना वैशिष्ट्य लिए हैं। उदाहरणतया बौद्धदृष्टि मनोदण्ड को ही मुख्य मानती है किन्तु जैन परम्परा मन के अतिरिक्त वचन और काय के संयम को भी समान महत्त्व देती है। परिणाम स्वरूप जहाँ बौद्धचर्या अपेक्षाकृत कोमल है जैन चर्या अत्यन्त कठोर है। संभवतः यह भी एक कारण है कि बौद्धधर्म पूरे एशिया में फैल गया किन्तु जैनधर्म भारतवर्ष तक ही सीमित रह गया।

मज्झिमनिकाय के उपालिसुत्त में बौद्धों के द्वारा जैनों पर यह आरोप लगाया गया है कि वे शारीरिक क्रियाओं को अधिक महत्त्व देते हैं, जबकि बौद्ध आन्तरिक भाव को मुख्य मानते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि जैन शरीर को भी मन के समान ही धर्म अथवा अधर्म का एक उपकरण मानते हैं। सभी भारतीय दर्शनों में संभवतया जैनदर्शन ही एक ऐसा दर्शन है जो कर्म का भाव रूप होने के साथ-साथ द्रव्यरूप भी मानता है। इसका अर्थ

यह है कि हमारे अच्छे या बुरे कर्म केवल मन को ही प्रभावित नहीं करते, शरीर पर भी अपना प्रभाव छोड़ते हैं। सूत्रकृतांग में कहा गया है कि अमनस्क जीव बिना मन के भी शरीर द्वारा की गई हिंसा के उत्तरदायी होते हैं।

मनोविज्ञान की शोध पत्रिकाओं में कुछ घटनाएं जब तब प्रकाशित होती रहती हैं। एक घटना का उल्लेख कुछ वर्ष पूर्व हुआ था। एक अरबपति व्यक्ति के हाथ की उंगलियां किसी दुर्घटना में कट गईं, उसी समय एक दूसरे व्यक्ति का शरीर शांत हो गया। अतः इस व्यक्ति के हाथ की उंगलिया काटकर उस अमीर व्यक्ति के हाथों में आरोपित कर दी गई। शल्यचिकित्सकों की कुशलता से उस अमीर व्यक्ति के हाथ में दूसरे के हाथ की लगाई गई, उंगलियां काम करने लगीं। इस अत्यन्त अमीर व्यक्ति पर न्यायालय में यह मुकदमा चला कि ये दूसरे की जेबों से पैसा निकाल लेता है। न्यायाधीश को बड़ा आश्चर्य हुआ कि एक अरबपति व्यक्ति को ऐसा कार्य करने की क्या आवश्यकता है कि वह दूसरों की जेबों से दस पांच रुपयों की छोटी-छोटी रकम निकालता फिरे। खोज करने पर पता चला कि जिस व्यक्ति के हाथों की उंगलियां इस अमीर व्यक्ति के हाथों पर आरोपित की गई थी वह व्यक्ति आदतन जेबकतरा था। दूसरों की जेब में हाथ डालकर पैसा निकालने का संस्कार केवल उसके मन में ही नहीं रहा, उसकी उंगलियों में भी आ गया और उन उंगलियों के माध्यम से इस अमीर व्यक्ति के हाथ में भी संस्कार आ गया। यद्यपि इस व्यक्ति के मन में दूसरों की जेबों से पैसा निकालने का संस्कार नहीं था, किन्तु हाथ की उंगलियों में वह संस्कार होने के कारण वह जेबकतरेपन का कार्य अनजाने में ही करने लगा। इस घटना से यह स्पष्ट होता है कि जैन परम्परा में जो बाह्य तप पर बौद्ध परम्परा की अपेक्षा अधिक बल दिया जाता है उसका भी अपना महत्त्व है, यद्यपि जैसा स्वयंभू स्तोत्र में कहा गया है-बाह्य तप का उद्देश्य आंतरिक तप को निर्मल बनाना ही है।

जो कुछ हमने ऊपर कहा, उसका उद्देश्य यह बताना है कि जैन एवं बौद्ध दोनों परम्पराएं एक दूसरे से बहुत कुछ सीख सकती हैं। कालक्रम में यदि बौद्ध के अनुयायियों के बाह्य आचरण में मांस भक्षण जैसा शिथिलाचार आ गया हो तो जैनधर्म से ये बाह्य आचरण की शुद्धता का पाठ सीख सकते हैं। इसीप्रकार यदि कालक्रम में जैन परम्परा बाह्य आचरण को एक भाव-हीन कर्मकाण्ड में बदल रही हो तो उसे बौद्ध परम्परा से भावशुद्धि का संदेश ग्रहण करना चाहिए। मैं किसी भी तुलनात्मक अध्ययन का प्रयोजन यह मानता हूँ कि दो परम्पराएं एक दूसरे की अच्छाइयों को सीखें न कि एक दूसरे की बुराइयों को उजाकर करके परस्पर निन्दा में प्रवृत्त हों।

मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि डॉ. विजयकुमार जैन जन्मना जैन हैं और कर्मणा बौद्धदर्शन के विशिष्ट अध्येता हैं। इस दुर्लभ संयोग के कारण वे दोनों ही परम्पराओं के प्रति पक्षपात-रहित दृष्टि अपना सकते हैं। यह निष्पक्षता ही अध्यात्म के क्षेत्र में वीतरागता कहलाती है और अनुसंधान के क्षेत्र में वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता।

डॉ. जैन का पालि एवं प्राकृत विद्या शीर्षक से प्रकाशित होने वाला यह लेख संग्रह सर्वजन हिताय सिद्ध होगा। इसमें जहाँ जैन और बौद्ध एक दूसरे को ठीक से समझ पाएँगे वहाँ वैदिक परम्परा के पाठक भी श्रमण संस्कृति की विशेषताओं को हृदयंगम कर सकेंगे।

पंडित गोपीनाथ कविराज ने डॉ. नथमल टाटिया के डी.लिट् के शोध प्रबन्ध की भूमिका के अन्त में यह कहा था कि अब समय आ गया है कि हम भारतीय संस्कृति की एक-एक धारा का पृथक्-पृथक् अध्ययन न करके पूरी भारतीय संस्कृति को समग्रता में देखें। जो बात गोपीनाथ कविराज ने डॉ. नथमल टाटिया के लिए कही थी, वही बात मैं डॉ. विजयकुमार जैन को कहना चाहता हूँ, क्योंकि मैं समझता हूँ कि उनकी शिक्षा और भावना इस मंगल कार्य को करने में समर्थ है कि वे केवल जैन और बौद्ध ही नहीं, वैदिक परम्परा के भी सूत्रों को लेकर एक ऐसा ताना-बाना बुन सकते हैं, जो भूमण्डलीयकरण के इस युग में आने वाली विश्वसंस्कृति का अविभाज्य अंग बन जाये। पालि एवं प्राकृत विद्या ग्रन्थ को मैं इस दिशा में उठाया गया पहला कदम मानता हूँ और डॉ. जैन के प्रति यह शुभाशंसा करता हूँ कि भविष्य में अनवरत रूप में अपनी सारस्वत साधना में उत्तरोत्तर वृद्धि करें।

दयानन्द भार्गव

(प्रो. दयानन्द भार्गव)
राष्ट्रपति सम्मान से सम्मानित
पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म विभाग,
जैन विश्वभारती संस्थान
(मानित विश्वविद्यालय), लाडनूं (राजस्थान)

६.१२.२००६
आवास-जी-ए पेराडाइज एपार्टमेंट्स,
डी-१४८, दुर्गामार्ग, वनी पार्क,
जयपुर (राज.)

ग्रन्थ के संदर्भ में

प्रस्तुत ग्रन्थ में २१ विषयों पर जैन एवं बौद्ध परम्पराओं के सन्दर्भ प्रस्तुत किए गए हैं। सर्वप्रथम पञ्च परमेष्ठी के रूप में णमोकार महामंत्र को प्रस्तुत किया गया है। जैन परम्परा में अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओं को नमस्कार किया जाता है। बौद्ध परम्परा में त्रिशरण गमन में बुद्ध, धर्म एवं संघ की शरण स्वीकार की जाती है। यहाँ पर बुद्ध के समान सिद्ध एवं आचार्य हैं। धर्म एवं संघ का रूप आचार्य, उपाध्याय में देखा जा सकता है। यथा आचार्य संघ का प्रधान होता है तथा उपाध्याय धर्म की शिक्षा देते हैं। जिसप्रकार बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि कहा जाता है। पञ्च परमेष्ठी को नमस्कार करते समय भी 'शरणं गच्छामि' शब्दों का प्रयोग हैं- चत्तारि शरणं पव्वज्जामि आदि। जिस प्रकार बुद्ध, धर्म एवं संघ के गुणों का महत्त्व प्रतिपादित किया जाता है, पञ्चपरमेष्ठी के गुणगान भी उसी प्रकार किए जाते हैं। इस प्रकार मङ्गलाचरण के रूप में दोनों परम्पराओं की आराधना को प्रस्तुत किया गया है।

पालि एवं प्राकृत भाषा शीर्षक में दोनों भाषाओं की तुलना की गई है। प्राकृत में मागधी प्राकृत समाविष्ट होती है, पालि को पहले मागधी कहा जाता था, लेकिन आज उपलब्ध साहित्य के आधार पर दोनों में अब मेल नहीं बैठता। यह प्राकृत आचार्यों की उदारता कही जा सकती है कि वे आज भी अपने परिवार में उसे सम्मिलित करते हैं। दोनों जनभाषाएं थीं। दोनों का सौभाग्य है कि एक-एक परम्परा का आश्रय मिलने के कारण आजतक सुरक्षित रह सकीं। पालि एवं प्राकृत काव्य समीक्षा में पालि एवं प्राकृत मुक्तक काव्य की मनोरम झांकी प्रस्तुत की गई है। इनमें भले ही महाकाव्य के लक्षण न घटते हो लेकिन मुक्तक काव्य के रूप में प्राकृत एवं पालि काव्य बेजोड़ हैं जिसके आनन्द लेने की अभी भी आवश्यकता है।

तीर्थंकर/बुद्ध के विवेचन में जैन एवं बौद्ध परम्परा में मान्य तीर्थंकरों एवं बुद्धों के गुणों, लक्षणों का प्रतिपादन किया गया है। इनका विस्तार से प्रतिपादन परिशिष्ट में किया गया है। भगवान महावीर एवं गौतम बुद्ध लेख में ई.पू. छठी शताब्दी में जन्में इन दो महापुरुषों की तुलना की गई है। जैन एवं बौद्ध परम्परा में निर्ग्रन्थ विवेचन में दोनों परम्पराओं के आधार पर निर्ग्रन्थ शब्द का विस्तार से विवेचन. किया गया है। वस्तुतः यह जैन परम्परा के तीर्थंकरों के लिए है। पालि

त्रिपिटक में भगवान महावीर को निगण्ठ नाटपुत्त कहा गया है। जैन शब्द बाद में प्रयुक्त हुआ।

जैन एवं बौद्धधर्म में सैद्धान्तिक समानता के सन्दर्भ में दोनों धर्मों की समानता के विविध पक्ष प्रस्तुत किए गए हैं तथा वैषम्य भी बतलाया गया है। चातुर्मास, पञ्चशील, पञ्चव्रत, निर्वाण/मोक्ष, आर्यअष्टांगिक मार्ग, त्रिरत्न, पंचकल्याणक एवं बुद्धों के जन्म, ज्ञान, प्रथमोपदेश, निर्वाण का महत्त्व आदि प्रस्तुत किया गया है, पश्चात् दोनों परम्पराओं के पारिभाषिक शब्दों के कुछ शब्दों जैसे- अर्हन्त, निर्वाण/मोक्ष, संघ, सम्यक्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, आस्रव, प्रज्ञा, देशना की समीक्षा की गई है। जैन एवं बौद्ध धर्म के अहिंसा शीर्षक में दोनों परम्पराओं के मूल सन्दर्भों के आधार पर अहिंसा का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। जैन एवं बौद्ध धर्म में कर्मसिद्धान्त शीर्षक में विस्तार से कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। कर्मसिद्धान्त से जुड़े हुए पक्षों पर भी विस्तार से चर्चा की गई है। यथा लेश्या, बंध, ध्यान आदि। इसी प्रकार बौद्ध परम्परा के सभी सम्प्रदायों के मतों को प्रस्तुत किया गया है।

जैन एवं बौद्ध आगमों में तप की अवधारणा में दोनों परम्पराओं की मान्यताओं को प्रस्तुत किया गया है। जैन परम्परा में जहाँ आभ्यन्तर एवं बाह्य तप का वर्णन मिलता है। बौद्ध परम्परा मध्यममार्गीय है, फिर भी कहा गया है कि कुशल धर्म बढ़ते हो तथा अकुशल धर्म घटते हो तो अवश्य ही तप या व्रत करना चाहिए।

जैन एवं बौद्ध परम्परा में ध्यान शीर्षक में विस्तार से ध्यान-योग का विवेचन किया गया हे। जैन ध्यान के अंग, भेद, अनुप्रेक्षाएं, ध्याता, ध्येय, समाधि के स्थान, तथा बौद्ध परम्परा में प्राप्त ध्यान के भेद-प्रभेद तथा हीनयान एवं महायान में उसका विकास भी दिखाया गया है।

जैन एवं बौद्ध परम्परा में समाधिमरण शीर्षक में जैन परम्परा सल्लेखना का विस्तार से प्रतिपादन तथा बौद्ध धर्म में इससे मिलते जुलते सन्दर्भ प्रस्तुत किए गए हैं। बौद्ध एवं जैन विद्या में प्रज्ञा का संक्षेप में विवेचन किया गया है। सम्यक्दृष्टि शीर्षक में दोनों परम्पराओं में प्राप्त सन्दर्भों की विवेचना करते हुए पाया गया है कि मूलभावना दोनों की एक है। यह अलग बात है कि दोनों को एक दूसरे के लिए मिथ्यादृष्टि कहा गया है, पश्चात् दोनों परम्परा में प्रमाण का विवेचन किया गया है। दोनों परम्पराए सम्यक्ज्ञान को प्रमाण मानती हैं लेकिन सम्यक्ज्ञान की परिभाषा अलग-अलग करती हैं, दोनों संख्या भी दो मानते हैं। बौद्ध प्रत्यक्ष एवं अनुमान,

जैन प्रत्यक्ष एवं परोक्ष। गृहस्थ धर्म शीर्षक में गृहस्थों के नियमों का विवेचन किया गया है। बौद्धों में मान्य गृहस्थों के लिए विशिष्ट सिंगालोवाद सुत्त का पूरा विवरण दिया गया है। दान शीर्षक से पता चलता है कि दोनों परम्पराएं समाज को यह संदेश देना चाहती हैं कि भोग के साथ दान आवश्यक हैं, इससे सामाजिक विषमता दूर करने में सहायता मिलती है। भौगोलिक मान्यताओं में वर्णित किया गया है कि भारतीय परम्परा पुण्य-पाप मानती है। उसके लिए विभिन्न गतियों का एवं संसार का दर्शन कराया जाता है जिससे लोग अच्छे कर्म की ओर प्रवृत्त हो। नारी का स्थान एवं योगदान के प्रसङ्ग में दोनों परम्पराओं में महिलाओं के प्रति उदार दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया गया हैं। स्त्रियों को ब्रह्मचर्य का मल कहा जाता है लेकिन गृहस्थ परम्परा में उसका महत्त्वपूर्ण योगदान है। मोक्ष/निर्वाण के सन्दर्भ में दोनों परम्पराओं द्वारा मान्य मोक्ष एवं निर्वाण की स्थिति स्पष्ट की गई है।

परिशिष्ट एक में पच्चीस बुद्धों का विस्तार से तथा परिशिष्ट दो में चौबीस तीर्थंकरों का परिचय दिया गया है। इससे तुलना करने वाले पाठकों को अच्छी सामग्री मिलेगी। परिशिष्ट तीन में महत्त्वपूर्ण शब्दों की अनुक्रमणिका दी गई है।

इस प्रकार इस पुस्तक में जैन एवं बौद्ध परम्परा के सन्दर्भों की लेखक ने अच्छी सामग्री प्रस्तुत की है। मैं अपना परम सौभाग्य मानती हूँ कि मुझे डॉ. विजयकुमार जैन की धर्मपत्नी होने के साथ-साथ ज्ञानाराधन करने का सौभाग्य भी मिला है, जिससे इस ज्ञानयज्ञ के प्रकाशन में सहभागी हो रही हूँ। इसके पूर्व संस्कृत भाषा में लिखित बौद्ध निबन्धों का संग्रह 'अत्त दीपो भव' नाम से प्रकाशित हुआ है। अभी हिन्दी भाषा में बौद्ध एवं जैन निबन्धों के संग्रह तथा कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशनाधीन हैं।

प्रोफेसर दयानन्द जी भार्गव की विद्वतापूर्ण भूमिका से ग्रन्थ की शोभा और बढ़ गई है। पुनश्च इस ज्ञानयज्ञ में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में सभी सहयोगीजनों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

मैत्री कुटीर — डॉ. राका जैन

३/६५ विकास खण्ड, — पूर्व सहायक प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,

गोमती नगर, लखनऊ — संस्कृत विभाग, शासकीय महाविद्यालय म.प्र.

११.१२.०६

आत्म-निवेदन

भगवान महावीर एवं भगवान बुद्ध ने अपने उपदेश जनभाषा में दिए जिसे उनके शिष्य जनभाषा में संग्रह करते जाते थे। यही जनभाषाएं प्राकृत पालि नाम से विख्यात हुई। यही कारण है कि बौद्ध एवं जैन आचार्यों ने प्रारम्भ में पालि एवं प्राकृत भाषा में ही लिखा पश्चात् संस्कृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं में विशाल साहित्य लिखा। दोनों परम्पराओं को पूरक के रूप में भी देखा जा सकता है। साथ ही ये दोनों परम्पराएं भारतीय संस्कृति की अभिन्न अङ्ग रही हैं। यहाँ पर बौद्ध एवं जैन विद्या के प्रमुख शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। वस्तुतः तुलनात्मक अध्ययन करना कठिन काम है, दोनों परम्पराओं के प्रति श्रद्धालु होकर मात्र शैक्षणिक दृष्टि से यहाँ समान सन्दर्भों की प्रस्तुति की जा रही है।

विश्व में पालि एवं प्राकृत भाषा का अध्ययन अनवरत चल रहा है। पालि को अन्तर्राष्ट्रीय स्थान उसी समय प्राप्त हो गया था जब श्रीलंका में त्रिपिटक पहुँचा तथा वहाँ पर अट्ठकथा, टीका साहित्य, विशाल वंश साहित्य पालि भाषा में लिखा गया। थाईलैण्ड एवं वर्मा के भिक्षु आज भी पालि भाषा में अपने शोध प्रबन्ध लिखते हैं। इस आंशिक प्रयोग के आधार पर आज भाषाविदों द्वारा जीवित भाषा के स्थान पर इसे क्लासिक भाषा के रूप में दर्जा प्राप्त हो गया है। यही हाल प्राकृत का है।

प्राकृत काव्य सम्मेलन, राष्ट्रपति भवन, शिमला, सन् २००० में आयोजित हुआ। वहां पर पालि एवं प्राकृत के मुक्तक काव्य का पाठ एवं समीक्षा हुई थी। विद्वानों ने पाया था कि प्राकृत साहित्य सम्प्रदाय की सीमा में न बंधकर लोकजीवन की झांकी प्रस्तुत करता है। पुनः श्रवणबेलगोला में मस्तकाभिषेक के अवसर पर प्राकृत कवि सम्मेलन का आयोजन किया गया। प्राकृतभाषा के विकास के लिए प्राकृत विश्वविद्यालय का संकल्प किया गया। परमपूज्य भट्टारक स्वस्ति श्री चारुकीर्ति जी महाराज का प्राकृत प्रेम अनुकरणीय है। आपकी भावना है कि जिस प्रकार संस्कृत भाषा के सरल-सुबोध ढंग से शिविर चलाए जा रहें हैं उसी प्रकार पूरे देश में प्राकृत के शिविर चलाए जाय। कर्नाटक में पूज्य स्वामी जी के निर्देशन में प्राकृतभाषा के शिविर चल रहे हैं तथा प्राकृत भाषा के विकास के चतुर्दिक विकास के प्रयास किए जा रहे हैं। श्री निर्मलकुमारजी जैन 'सेठी' अध्यक्ष, श्री दि. जैन महासभा, प्राकृत विश्वविद्यालय के लिए संघर्षशील हैं।

पालि भाषा के प्रचार-प्रसार का कार्य इगतपुरी में विपश्यना शोध संस्थान में हो रहा है। सम्पूर्ण पालि साहित्य को सी.डी. में उपलब्ध कराया जा रहा है तथा साहित्य भी एक सिरीज में छापा जा रहा है। लगभग २०० भाग छप चुके हैं, यह साहित्य अनुपम है। यह काम करके विपश्यना शोध संस्थान, इगतपुरी अमर हो गया है। प्राकृत साहित्य भी इसी माडल पर प्रकाशित हो तो अच्छा रहेगा। श्रमण साहित्य की अनुपलब्धता के कारण भारतीय इतिहास के लेखन में इसका पूरा उपयोग नहीं हो रहा है, उसमें प्रमुख कारण साहित्य का

अनुवाद सहित सुलभ न होना भी है। प्राकृत भाषा का समरकोर्स भोगीलाल लहरचन्द शोध संस्थान दिल्ली में चलाया जाता है। भदन्त आनन्द कौशल्यायन ने इस दिशा में तीस दिन में पालि का व्याकरण एवं प्रो. प्रेमसुमन जी ने प्राकृत स्वयं शिक्षक लिखकर एक उत्साह पैदा किया है कि इन भाषाओं का सरलता से अभ्यास किया जा सकता है। कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली में परमपूज्य सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य श्री विद्यानन्दजी महाराज की प्रेरणा से 'प्राकृत विद्या' पत्रिका प्रकाशित हो रही है तथा शौरसेनी प्राकृत पर राष्ट्रीय संगोष्ठियाँ होती रहती हैं। प्राकृत के क्षेत्र में कार्य करने वाले विद्वान् को पुरस्कृत किया जाता है।

डॉ. राजाराम जी ने प्राकृत एवं अपभ्रंश की पाण्डुलिपियों का सम्पादन किया है। उदयपुर में पूरा प्राकृत विभाग चल रहा है। प्रो. प्रेमसुमन जी का इसके विकास में पूरा योगदान है। प्रोफेसर उदयचन्द्र जी ने प्राकृत में सैकड़ों ग्रन्थ लिखकर एक कीर्तिमान स्थापित किया है। सांगानेर स्थित दि. जैन विद्यालय के छात्र डॉ. शीतलचन्द्र जैन के निर्देशन में शोध प्रबन्ध प्राकृतभाषा में प्रस्तुत कर रहे हैं। प्रोफेसर जे. बी. शाह के निर्देशन में एल. डी. इन्स्टीट्यूट अहमदाबाद, प्राकृत ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों के उद्धार में सतत् प्रयत्नशील हैं। कोल्हापुर, मैसूर, आरा, अहमदाबाद, वाराणसी में स्वतंत्र प्राकृत विभाग है। संस्कृत विभागों के साथ देश में कई विश्वविद्यालयों में प्राकृत पढ़ाई जाती है, जिनमें शोधकार्य भी हो रहे हैं। जवाहरलाल नेहरू वि.वि. नई दिल्ली के संस्कृत विभाग में पालि एवं प्राकृत के प्राध्यापकों की नियुक्तियां हुई हैं।

अहमदाबाद, नागपुर में पालि एवं प्राकृत विभाग है। जैन विश्व भारती, लाडनूं में प्राकृत विभाग चल रहा है। भारत सरकार प्रतिवर्ष पालि/प्राकृत के एक विद्वान को राष्ट्रपति सम्मान से सम्मानित करती है। श्री महावीरजी क्षेत्र कमेटी द्वारा प्राकृत एवं अपभ्रंश विद्या के विकास में प्रोफेसर कमलचन्द्र सोगानी जी के निर्देशन में पत्राचार पाठ्यक्रम चल रहा है। उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ प्रतिवर्ष एक पुरस्कार पालि/ प्राकृत की रचना को देती है। इसप्रकार पालि एवं प्राकृत भाषाओं के अध्ययन में जीवंतता बनी हुई है। वर्तमान में पूज्य मुनि श्री १०८ सुधासागरजी, उपाध्याय १०८ श्री ज्ञानसागर जी महाराज संगोष्ठियों के प्रेरणास्रोत रहते हैं जिससे श्रमण विद्या के क्षेत्र में प्रवृत्ति हो रही है।

१९८४ में यू.जी.सी. रिसर्च एसोसिएट योजना के अन्तर्गत मैंने जैन एवं बौद्धदर्शन के पारिभाषिक शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन किया था। उस समय एक-एक शब्द पर काम करते हुए यह अनुभव हुआ था कि प्रत्येक शब्द पर एक-एक स्वतंत्र शोध प्रबन्ध हो सकता है। योजना को वैज्ञानिक बनाने के लिए अवसर आने पर अहिंसा, निर्वाण प्रमाण आदि विषयों पर स्वतंत्र शोध कार्य भी कराए तथा विभिन्न राष्ट्रिय एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों में तुलनात्मक विषयों पर अपने शोध पत्र प्रस्तुत किए, कुछ विभिन्न पत्रिकाओं में छपवाये भी। यह कार्य अपने गुरुवर पूज्य डॉ. कोमलचन्द जी जैन के निर्देशन में सम्पन्न

किया था, उसी का प्रतिफल यह कृति है। आपकी पालि प्रवेशिका एवं प्राकृत प्रवेशिका पूरे देश में पढ़ाई जाती है।

इस विषय पर पहले जो कार्य हुए थे- वे स्थूल चिन्तन के आधार पर थे क्योंकि साम्य दिखाई देने पर भी वैषम्य पर्याप्त मात्रा में है। जैन एवं बौद्ध दर्शन के पारिभाषिक शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन विषय पर अभी बहुत कार्य अवशिष्ट है। दोनों परम्पराओं के सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने से साम्य एवं वैषम्य स्वयं उजागर हो जाता है। शब्दों की प्रधानता एवं मूलस्रोत्र पालि एवं प्राकृत होने के कारण जैनदर्शन एवं बौद्धदर्शन के स्थान पर पालि एवं प्राकृत विद्या का नाम देना उचित समझा। इक्कीस शब्दों पर विचार किया गया है। परिशिष्ट एक दो में बुद्धों एवं तीर्थंकरों का परिचय तथा परिशिष्ट तीन में सुविधा के लिए महत्त्वपूर्ण शब्दों की अनुक्रमणिका दी गई है। गुरुवर डॉ. साम्ताणी जी सदैव शब्दानुक्रमणिका पर जोर देते हैं।

प्रोफेसर दयानन्द भार्गव जी के प्रति नमतस्तक हूँ। आप भारतीय विद्या के सच्चे उपासक हैं। आपने आशीर्वाद दिया है कि भारतीय विद्याओं में अखण्डता के दर्शन को उजागर करें। जैन एवं बौद्ध विद्या की तुलना मात्र प्रथम कदम माना जाय। श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी की छत्र छाया में बैठकर एवं रहकर यह कार्य प्रारम्भ किया था। प्रोफेसर सागरमल जी जैन उस समय तुलनात्मक अध्ययन में प्रेरणा-स्रोत थे। प्रोफेसर जे. बी. शाह (जीतू भाई) का भी सत्संग एवं प्रोत्साहन मिलता था। स्मृति शेष परम पूज्य पिताजी श्री दादूलाल जी जैन एवं श्री वीरेन्द्र प्रसादजी जैन का आशीर्वाद साथ है। वे सदैव सरस्वती उपासना की प्रेरणा देते रहते थे। कहते थे कि चलते घोड़े को दाने की कमी नहीं रहती। इस कार्य को मूर्त रूप देने का पूर्ण श्रेय मेरी धर्मपत्नी राका जैन को है। हम लोग वस्तुतः "वागर्थाविव सम्पृक्तौ" की तरह मिलकर सरस्वती की आराधना कर रहे हैं। वह नींव के पत्थर की तरह अपनी शासकीय सेवा छोड़कर परिवार की उन्नति में सहायक है एवं यथासम्भव सरस्वती की उपासना में लगी हुई हैं। प्रोफेसर विश्वनाथ भट्टाचार्य, डॉ. एन.एच. साम्ताणी, श्री जमनालाल जी जैन, प्रोफेसर कमलेश कुमार जी जैन, प्रो. संघसेन सिंह, डॉ. जयकुमारज़ी, डॉ. श्रेयांशजी जैन ने प्रारम्भ से ही मुझे मार्गदर्शन दिया है। सभी मित्रों के प्रति भी कृतज्ञता के भाव है। डॉ. लोकमान्य मिश्र जी का प्रकाशन में सहयोग उल्लेखनीय है। प्रोफेसर वृषभ प्रसाद जैन, प्राचार्य डॉ. सुरेन्द्र झा जी एवं सभी मित्रों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। अपने परिवार के सभी सदस्यों बड़े भाइयों, भाभियों, भतीजों एवं पार्श्व, डॉ. पत्रिका, मैत्रेय, मैत्री आदि का स्नेह सम्बल रहता है।

यदत्र सौष्ठवं किञ्चित्तद्गुरोरेव मे नहि।
यदत्रासौष्ठवं किञ्चित्तन्ममैव गुरोर्नहि।।

गुरुपूर्णिमा, २००६

विजयकुमार जैन

विषयानुक्रमणिका

पञ्च परमेष्ठी एवं त्रिशरण

(क) पञ्च परमेष्ठी

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सब्बसाहूणं।।
चत्तारि मंगलं, अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं,
साहू मंगलं, केवलि पंण्णत्तो धम्मो मंगलं।
चत्तारि लोगुत्तमा, अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा,
साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा।
चत्तारि सरणं पव्वज्जामि, अरिहंते सरणं पव्वज्जामि,
सिद्धे शरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि,
केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।

अरहन्तों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक में सब साधुओं को नमस्कार हो।

चार मंगलस्वरूप हैं- अरहन्त मंगल हैं, सिद्ध मंगल हैं, साधु मंगल हैं और केवली द्वारा प्रज्ञप्त धर्म मंगल है।

लोक में चार सर्वश्रेष्ठ हैं- अरहन्त सर्वश्रेष्ठ हैं, सिद्ध सर्वश्रेष्ठ हैं, साधु सर्वश्रेष्ठ हैं और केवली द्वारा प्रज्ञप्त धर्म सर्वश्रेष्ठ हैं।

चार की शरण में जाता हूँ-अरहन्तों की शरण में जाता हूँ। सिद्धों की शरण में जाता हूँ, साधुओं की शरण में जाता हूँ और केवली द्वारा प्रज्ञप्त धर्म की शरण में जाता हूँ।
'धवला' में पंच-परमेष्ठियों का स्वरूप इस भांति वर्णित किया गया है-

१. अरिहंत (अरहंत) -

'णिद्दद्ध-मोह-तरुणो वित्थिण्णाणाण-सायरुत्तिण्णा।
णिहय-णिय-विग्घ-वग्गा, बहु-बाह विणिग्गया अयला।।२३।।
दलिय-मयण-प्पयावा तिकाल-विसएहि तीहिं णयणेहि।
दिट्ठ-सयलट्ठ-सारा, सुदद्ध-तिउरा मुणि-व्वइणो।।२४।।
तिरयण-तिसूलधारिय, मोहंधासुर-कवंध-बिंद-हरा।
सिद्ध-सयलप्प-रूवा अरहंता दुण्णय-कयंता।।२५।।

जिन्होंने नरक, तिर्यंच, कुमानुष और प्रेत इन पर्यायों में निवास करने से होने वाले समस्त दुःखों के मूल कारण मोह और तदाधीन ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय चार कर्मरूपी शत्रुओं-कर्मरूपी रज को नष्ट किया है वे अरिहंत होते हैं। देव, असुर और मनुष्यों के द्वारा सातिशय पूज्य होने से इन्हें अर्हन् भी कहा जाता है।

२. सिद्ध-

'णिहय विविहट्ठ-कम्मा तिहुवण-सिर-सेहरा बिहुव-दुक्खा।
सुह-सायर-मज्झ गया णिरंजणा णिच्च अट्ठगुणा'।।२६।।

जो पूर्णतः अपने स्वरूप में स्थित हैं, कृतकृत्य हैं, जिन्होंने अपने साध्य को सिद्ध कर लिया है और जिनके ज्ञानावरणादि आठ कर्म नष्ट हो चुके हैं, उन्हें सिद्ध कहते हैं। (अरहंतावस्था केवलज्ञानी की सकल-सशरीरी अवस्था है और सिद्ध अशरीरी-आत्ममात्र निराकार होते हैं और लोकाग्र-ऊर्ध्वभाग में विराजमान होते हैं)

३. आचार्य-

'संगह-णिग्गह-कुसलो सुत्तत्थ-विसारओ महिय-कित्ती।
सारण-वारण-साहण-किरियुज्जुत्तो हु आइरियो।।३१।।

जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र तप और वीर्य इन पांच आचारों को स्वयं आचरण करते हैं और दूसरे साधुओं से आचरण कराते हैं, उन्हें आचार्य कहते हैं।

४. उपाध्याय-

चोद्दस-पुव्व-महोयहिगम्म सिव-त्थिओ सिवत्थीणं।
सीलंधराण वत्ता होइ मुणी सो उवज्झायो।।३२।।

जो साधु चौदह पूर्वरूपी समुद्र में प्रवेश करके अर्थात् परमागम का अभ्यास करके मोक्षमार्ग में स्थित हैं तथा मोक्ष मार्ग के इच्छुक शीलंधरों मुनियों को उपदेश देते हैं, उन मुनीश्वरों को उपाध्याय कहते है।

५. सर्वसाधु -

सीह-गय-बसह-मिय-पसु-मारुदसूरुवहि-मंदरिंदु-मणी।
खिदी-उरगंवर-सरिसा परम-पय-विमग्गया साहू।।३३।।

जो अनन्त ज्ञानादि रूप शुद्ध आत्मा के स्वरूप की साधना करते हैं, जो पाँच महाव्रतों को धारण करते हैं, तीन गुप्तियों से सुरक्षित हैं, अठारह हजार शील के भेदों को धारण करते हैं और चौरासी लाख उत्तर गुणों का पालन करते हैं, वे साधु परमेष्ठी होते हैं।

(ख) त्रिशरण

बुद्धं सरणं गच्छामि,
धम्मं सरणं गच्छामि,
संघं सरणं गच्छामि।

बुद्ध -

इति पि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो।
लोकविदू अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि सत्था देवमनुस्सानं बुद्धोभगवा 'ति।।

- संयुत्तनिकाय पृ. २६१

इस कीर्तिसूचक वचन में कहा गया है कि वे भगवान् अर्हत् सम्यक्-सम्बुद्ध, विद्याचरण-सम्पन्न, सुगत, लोकविद्, अनुपम, पुरुषदम्य सारथी, देवमनुष्यों के शास्ता हैं-

भगवान्-

यह बुद्ध का विशेषण है, जो बोधिज्ञान के बाद प्रज्ञप्त सिद्ध होता है। भग (ऐश्वर्य) धर्मों से युक्त होने से भगवान् कहा जाता है। राग आदि भग्न कारक धर्मों के नाश करने वाला होने से, विभक्त करने वाला होने से, भवों में रमण करने वाला होने से भी भगवान कहलाता है।

अर्हत-

सभी क्लेश शत्रुओं को हत करने से बुद्ध को अर्हत् कहा जाता है।

बुद्ध-

विशेष ज्ञान जानने योग्य अभिज्ञानों को जानने, भावना करने योग्य धर्मों की भावना करने, प्रहाण करने योग्य धर्मों को प्रहाण करने से बुद्ध कहा गया है।

सम्यक्सम्बुद्ध-

सम्यक्दृष्टि से चार आर्यसत्यों सहित सभी धर्मों को जानने से सम्यक् सम्बुद्ध कहा गया है।

विद्याचरणसम्पन्न-

विद्याओं एवं चरण से युक्त होने से विद्याचरण सम्पन्न कहा गया है। विद्याएं तीन और आठ कही गई हैं, साथ ही छः अभिज्ञाओं को भी विद्या कहा गया है।

चरण- संवर, इन्द्रियों में गुप्त द्वार होना, मात्रा के साथ भोजन करना, जागरणशील, सात सद्धर्म एवं चार रूपावचर ध्यान इन पन्द्रह को चरण कहा गया है।

सुगत- शोभन करने, सुन्दर ध्यान को जानने, सम्यक् रूप से गए होने तथा सम्यक् रूप से बोलने के कारण सुगत कहा गया है।

लोकविदू-

लोक से विदित होने तथा चार आर्यसत्यों के जानने से लोकविद् कहा गया है।

अनुत्तरपुरुषदम्मसारथी-

दमन योग्य पुरुषों को हांकने के कारण पुरुषदम्य सारथी तथा आठ दिशाओं-आठ समापत्तियों को हांकने से अनुत्तर कहा है। भगवान् आठ दिशाओं में पुरुषों को हांकते हैं, इसलिए उन्हें अनुत्तर पुरुषदम्य सारथी कहा गया है।

शास्ता- अनुशासन करने के कारण उन्हें अनुशास्ता कहा गया है।

धर्म-

स्वाक्खातो भगवता धम्मो संदिट्ठिको अकालिको एहिपस्सिको ओपनेयिय्यको पच्चत्तं वेदितब्बो विञ्ञूही 'ति। - संयुत्त ५, पृ. २६१

धर्म स्वाख्यात-अच्छी तरह कहा गया, सांदृष्टिक-देखते ही देखते फल देने वाला, अकालिक-बिना देरी के सफल होने वाला, एहिपस्सिक-यही देखा-अजमाया जा सकने वाला, ओपनयिक-परमपद तक ले जाने वाला, विञ्ञूहि वेदितब्बो-विज्ञों द्वारा अनुभव किए जा सकने वाला है।

संघ-

सुप्पटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, उजुप्पटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, अप्पटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, सामीचिप्पटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, यदिदंचत्तारि पुरिसयुगानि अड्ढ पुरिसप्पुग्गला, एस भगवो सावकसंघो आहुनेय्यो पाहुनेय्यो दक्खिणेय्यो अंजलिकरणीयो अनुत्तरं पुञ्ञक्खेत्तं लोकस्सा 'ति। - संयुक्त ०५, पृ. २६१

भगवान का श्रावक संघ सुमार्ग पर आरूढ़ है, ज्ञाने के मार्ग पर आरूढ़ है, सच्चे मार्ग पर आरूढ़ है। जो ये पुरुषों के चार जोड़ा या आठ पुरुष हैं, यही भगवान का श्रावक संघ है, जो स्वागत करने योग्य, सत्कार करने योग्य संसार का अलौकिक पुण्य क्षेत्र है।

संघ को चार पुरुष जोड़ा कहा गया है। इन चार से तात्पर्य स्रोतापत्ति, सकृदागामी, अनागामी एवं अर्हत् हैं ये चार मार्ग एवं फलों से चार जोड़े है। व्यक्ति जब इन पदों की प्राप्ति में लगता है तो वह मार्ग में आरूढ़ कहा जाता है एवं जब अपने उद्देश्य में सफल हो जाता है तो वह फल प्राप्त कहा जाता है।



पालि एवं प्राकृत भाषा

भगवान् महावीर एवं बुद्ध ने अपने उपदेश 'जनभाषा' में देना पसन्द किया, जिसमें से आज भगवान् महावीर की वाणी 'प्राकृतभाषा' में एवं भगवान् बुद्ध की वाणी 'पालि' में सुरक्षित पाते हैं। दोनों श्रमण-संस्कृति के प्रतिनिधि जैन एवं बौद्ध-साहित्य को संजोये सुरक्षित रखे हुए स्वयं भी सुरक्षित हैं। पालि एवं प्राकृत दोनों मध्यकालीन आर्यभाषा के अन्तर्गत भाषाविज्ञान में परिगणित होती हैं। मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा युग में जनभाषा के विकास के हम तीन स्तर देखते हैं- १. अशोक की धर्मलिपियों की भाषा एवं सम्राट् खारवेल के शिलालेख की भाषा, २. प्राकृत भाषायें, ३. अपभ्रंश भाषायें।

आधुनिक युग में आकर इन्हीं अपभ्रंश भाषाओं से हमारी हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि वर्तमान प्रान्तीय भाषाओं का विकास हुआ।[1]

प्राकृत के आज हम विभिन्न रूप पाते हैं, जबकि पालि एकरूप में ही है, जिसे उस समय 'मागधी' कहा जाता था। प्राकृत की दृष्टि से विभिन्न प्राकृतों में एक मागधी है, लेकिन भाषावैज्ञानिक विशेषताओं के आधार पर मागधी प्राकृत एवं पालि (जिसे पहले मागधी कहा जाता था)[2] में अन्तर है। पालि (मागधी) में जहाँ एक दन्त्य 'स' है (श्, ष् का अभाव है); वहीं प्राकृत मागधी में दन्त्य 'स्' का अभाव है मात्र 'श्' ही प्राप्त होता है। पालि का आधार केवल वही मागधी या मगध की बोली हो सकती है, जो मध्यमंडल अर्थात् पश्चिम में कुछ जनपद से पूर्व में मगध तक और उत्तर में श्रावस्ती से दक्षिण में अवन्ती तक फैले हुए प्रदेश की सामान्य सभ्य भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी और जिसका विकास अनेक कारणों से गौरव प्राप्त करने वाली मगध की भाषा से हुआ है, अनेक कारणों से ही जिसमें नाना प्रदेशों की बोलियों का सम्मिश्रण हो गया, जिसका साक्ष्य आज हम 'पालि' में पाते हैं।[3]

प्राकृत के 'पाणिनि' कहे जाने वाले प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् पिशेल ने पालि को प्राकृत से स्वतंत्र माना है। प्रसिद्ध प्राकृत के विद्वान् प्रोफेसर बेचरदास दोशी ने भी पालि एवं मागधी प्राकृत को स्वतंत्र भाषा माना है।

दोशी जी की गुजराती में लिखित 'प्राकृत व्याकरण' का हिन्दी अनुवाद 'प्राकृत मार्गोपदेशिका' है, जिसमें प्राकृत का वैशिष्ट्य दिखाया है, इसमें आपने सामान्य प्राकृत, पालि, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची तथा अपभ्रंश भाषा के व्याकरण का समावेश किया है एवं कहा है कि प्राकृत भाषा से उक्त सभी भाषायें समझनी चाहिये।

पालिभाषा की विशेषता है कि उसमें मात्र बौद्ध-परम्परा के एक विशेष सम्प्रदाय 'थेरवाद' का साहित्य पाया जाता है। प्राकृतभाषा का अस्तित्त्व प्राचीन है। भगवान् महावीर एवं बुद्ध ने इसी जनभाषा प्राकृत का आश्रय लेकर जनकल्याण का उपदेश दिया था। सम्राट् अशोक ने शिलालेख और स्तम्भ लेखों को इसी भाषा में उत्कीर्ण कराया। ईस्वी सन् की प्रथम-द्वितीय शताब्दी तक प्राकृतभाषा में उपभाषाओं के भेद दिखाई देते हैं।[४] पालि का भी विशाल साहित्य है एवं उसकी अक्षुण्ण परम्परा चल रही है, भले ही बीच में भारत से लुप्त हो गई। श्रीलंका, बर्मा, थाईलैण्ड आदि देशों में पालि में काव्यग्रन्थ, अट्ठकथा साहित्य, वंश-साहित्य लिखा गया एवं आज भी लिखा जा रहा है।

पालि एवं प्राकृत दोनों जनभाषायें थी, उनका विकास भी उसी रूप में हुआ। भले ही आज हमें दोनों भाषाओं का विशाल साहित्य प्राप्त होता है, उसे 'साहित्यिक पालि' या 'साहित्यिक प्राकृत' कहा जाता है। प्राकृत को सामान्य जनों के व्यवहार के लिए उपयुक्त भाषा कहा गया है-

'अम्हारिसजणजोग्गे पाउडमग्गे।'[५]

रुद्रट के 'काव्यालंकार' पर टीका करते हुए नमिसाधु ने लिखा है कि "लोग तीन भाषायें मानते थे-प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश।

'यद् उक्तम् कैश्चिद् यथा-प्राकृतं संस्कृतं चैतद् अपभ्रंश इति त्रिधा।'

– इस कथन से तो यही स्पष्ट होता है कि प्राकृत में पालि का समावेश किया गया, जबकि अपभ्रंश को प्राकृत से स्वतन्त्र गिना गया।

प्रो. होएर्नल ने प्राकृत-बोलियों को दो भागों में कहा है- एक शौरसेनी बोली, दूसरी मागधी प्राकृत बोली। देश-भेद से उसे 'पूर्वी' और 'पश्चिमी' कहा है। पूर्वी प्राकृत 'मागधी' कहलाई पश्चिमी 'शौरसेनी'। आगे शौरसेनी का शैलीगतभेद 'महाराष्ट्री' हुआ, जिसमें काव्यग्रन्थ रचे गये। वास्तव में 'महाराष्ट्री' को महाराष्ट्र प्रान्त की भाषा होनी चाहिए, लेकिन उसे काव्य-ग्रन्थों की भाषा मानी गयी[६] क्योंकि विद्वानों का विचार है कि नाटकों एवं काव्यों की प्राकृतभाषा बोलचाल की प्राकृतभाषा नहीं है। भरतमुनि कृत 'नाट्यशास्त्र' में नाटक के पात्रों को आज्ञा दी गई है कि "नाटकों की भाषा शौरसेनी के साथ-साथ अपनी इच्छा के अनुसार वे अन्य कोई भी प्रान्तीय भाषा काम में लायें"

शौरसेनीं समाश्रित्य भाषा कार्या तु नाटके।
अथवा छन्दतः कार्या देशभाषा-प्रयोक्तृभिः।।

संस्कृत-नाटकों में प्राकृत को स्त्रियों एवं ग्रामीणों की बोली के रूप में प्रयुक्त किया है। 'मृच्छकटिक' में विदूषक कहता है कि उसे दो बातों पर बहुत हँसी आती है, एक तो उस स्त्री को देखकर जो संस्कृत बोलती है और दूसरे उस पुरुष को देखकर जो बड़ी धीमी आवाज में गाता है। पृथ्वीधर ने कहा है कि 'स्त्रियों को प्राकृत में ही बोलना चाहिये'-

"स्त्रीषु नाप्राकृतम् वदेत्।"

पालि एवं प्राकृत का विकास मध्यकालीन आर्यभाषाओं के विकास का प्रथम चरण था। बौद्ध-परम्परा ने मागधी को मूलभाषा घोषित करके अपना स्वतन्त्र अस्तित्त्व बनाये रखा-

'सा मागधी मूलभासा नराययादि-कप्पिका..।'

महात्मा बुद्ध ने अपनी-अपनी भाषा में उनके उपदेश-ग्रहण करने को कहा 'सकायनिरुत्तिया'। कुछ भिक्षुओं द्वारा बुद्ध के वचनों को संस्कृत में अनुवादित करने पर दुक्कट (दुष्कृत) का अपराध बतलाया। यह पालि की परम्परा बाद में बौद्धों की थेरवाद शाखा ही चला सकी। महासांघिक एवं महायान-परम्परा ने संस्कृत को अपना लिया, भले ही वे संस्कृत के व्याकरण से अपने को पूरी तरह से बांध नहीं सके, जिसका परिणाम है कि उनकी संस्कृत को 'बौद्ध-संस्कृत' कहा जाता है', लेकिन पालि की जो परम्परा रही, वह पूरी तरह से अपना स्वतंत्र अस्तित्त्व बनाये रही, उसके समस्त व्याकरण पालि में हैं, अपना पालि में कोश है, जबकि प्राकृत के समस्त व्याकरण संस्कृत में हैं, प्राकृत का संस्कृत से सम्बन्ध अभिन्न सा बना रहा। संस्कृत नाटकों में कुछ पात्र संस्कृत एवं कुछ पात्र प्राकृत बोलते रहे।

बहुसंख्यक विद्वान् प्राकृत को जनभाषा के रूप में सब भाषाओं की जननी मानते हैं। राजशेखर ने 'प्राकृत को संस्कृत की योनि' कहा है। नमिसाधु का विचार है कि संसार के समस्त लोगों का व्याकरणादि से रचित सहज वचन-व्यापार प्रकृति है, उससे उत्पन्न या वही प्राकृत है-

प्राकृतेति सकलजन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचन-व्यापारः प्राकृतिः, तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्।

पिशेल का विचार है कि प्राकृतभाषा के मूल में केवल एक संस्कृत भाषा ही नहीं, अन्य बोलियां भी हैं, तथापि यह स्वयं सिद्ध है कि संस्कृत भाषा ही प्राकृत व्याकरण की आधारशिला है।[9] राजशेखर ने संस्कृत और प्राकृत की तुलना करते हुए कहा है कि संस्कृत के ग्रन्थों की भाषा कठोर होती है तथा प्राकृत पुस्तकों की कान्त और कोमल;

इनमें उतना ही भेद है, जितना कि पुरुष और स्त्री में। 'शाकुन्तलम्' की टीका में शंकर ने कहा है कि-

संस्कृतात् प्राकृतं श्रेष्ठं ततो अपभ्रंशभाषणम्।

वस्तुतः पालि एवं प्राकृत संस्कृत की अपेक्षा वैदिक संस्कृत के अधिक निकट है। जैन एवं बौद्ध दोनों परम्पराओं में 'अर्थ' को प्रधानता दी गई, जबकि वैदिक परम्परा में 'शब्द' को महत्त्व दिया गया है। इसलिए भाषा के सम्बन्ध में यहाँ विशेष आग्रह नहीं दिखाई देता, बल्कि 'सम्प्रेषण' का महत्त्व है। दोनों परम्पराओं ने संस्कृत को स्वीकार किया, लेकिन उसके व्याकरण से बंधे नहीं रहे, इसलिए बौद्धों की संस्कृत को 'बौद्ध-मिश्र संस्कृत' कहते हैं, जबकि जैन-परंपरा में संस्कृत को सरल करने के लिए स्वतंत्र व्याकरण रचे गए।

प्राकृत के विकास के रूप में अपभ्रंशरूपी पुल से हम हिन्दी तक पहुँच सकें। पालि एवं प्राकृत दोनों भाषाओं का भारतीय वाङ्मय एवं भाषाओं के विकास में विशेष उपकार है, क्योंकि आज की हिन्दी इन्हीं के विकास का परिणाम है। प्राकृत-अपभ्रंश से ही हिन्दी का उद्भव हुआ।

प्राकृतभाषा के सन्दर्भ में कहा गया कि सभी भाषायें उसी प्रकार इस भाषा में विलीन हो जाती है और इसी प्राकृतभाषा से निकलती है, जिस प्रकार समस्त जल समुद्र में विलीन हो जाता है और समुद्र से ही निकलता है।

संदर्भ-संकेत

१. पालि साहित्य का इतिहास, पृ. १२।

२. सिद्धिमिद्ध गुणं साधु नमसित्वा तथागतं।
सधम्मसंघं भासिस्सं मागधं सद्दलक्खणं।। - मोग्गल्लान व्याकरण

३. वही, पृ. १६।

४. प्राकृत साहित्य का इतिहास -नेमिचन्द्र जैन, आमुख पृ. ६

५. विद्धशालभंजिका, पृ. २५ से उद्धृत।

६. पिशेल-प्राकृतभाषाओं का व्याकरण।

७. वही, पृ. ६४

● प्राकृत विद्या, अक्टूबर से दिसम्बर १६६६ में प्रकाशित लेख

• • •

पालि प्राकृत काव्य समीक्षा

भगवान् महावीर एवं बुद्ध की बातों से सम्पूर्ण विश्व का उपकार हुआ है। ईसा पूर्व छठी शताब्दी भारत के लिए बहुत बड़ा पुण्य काल मानना चाहिए जब इन दो महान् आत्माओं का जन्म हुआ। विद्वान् मानते हैं कि यह धार्मिक संकट का समय था। एक ओर तपस्या के नाम पर अतिवादिता थी तो दूसरी ओर भोग विलासिता की ओर लोगों का झुकाव था। इसी तरह विचार के क्षेत्र में भी अतिवादिता थी कोई शाश्वत वादी थे तो कोई उच्छेदवादी। क्रियाकांड का (हिंसात्मक) महत्त्व था। भगवान् महावीर एवं बुद्ध ने संयम की स्थापना के लिए पंचशील एवं पांच अणुव्रतों के द्वारा समाज में फैले अनाचार को रोका।

दोनों महापुरुषों की विशेषता थी कि दोनों ने जनभाषा में अपने उपदेश दिए। भगवान् बुद्ध का विचरण स्थल मगध था, इसलिए उनके उपदेशों की भाषा मागधी कहलायी जो आज पालि नाम से जानी जाती है। भगवान् महावीर स्वामी की दिव्य ध्वनि के सन्दर्भ में मान्यता है कि पशुपक्षी भी अपनी-अपनी भाषा में उपदेश ग्रहण कर लेते थे। इसलिए भगवान महावीर की भावना को प्राकृत कहा जाता है। त्रिपिटक एवं आगम की शैली में भी कई समानताएं पाई जाती हैं। यथा-

सुयं मे आउसं ! तेण भगवया एवमक्खायं.. - आचारांग सूत्र, प्राकृत

एवं मे सुतं, एकं समयं भगवा विहरति सावत्थियं - दीघनिकाय पालि

रुद्रट के काव्यालंकार पर टीका करते हुए नामिसाधु तीन भाषाएं मानते थे- प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश। इससे स्पष्ट है कि प्राकृत में पालि का समावेश किया गया है। पालि गाथाओं में प्राप्त शिक्षाएं भी सामान्य जन से जुड़ी हुई हैं। भ. महावीर और बुद्ध ने जनभाषा में उपदेश दिये थे। भगवान बुद्ध ने सकायनिरुत्तिया अर्थात् अपनी अपनी भाषा में ही शिक्षा ग्रहण करने का आदेश दिया जिसे आज पालि भाषा कहा गया है। पहले मागधी कहा जाता था। सा मागधी मूलभासा नराययादि कप्पिका

प्राकृत काव्य-

अज्जज्ज सेण गुणगण समूह संधारि अजिय सेण गुरु।
भुवण गुरु जस्स गुरुसो राओ गोम्मटो जयऊ।।

पाइय कव्वस्स नमो पाइयकव्वं च निम्मिअं जेण।
ताहं चिय पणमामो पढिउण य जे वि याणंति।।

प्राकृत काव्य को नमन, उसके रचनाकार को नमन।

उन्हें भी नमन जो प्राकृत काव्य को पढ़ना जानते हैं।

प्राकृत के मुक्तक काव्य में गायन व लय प्रधान गाथाएं हैं, यह जीवन के गहरे अनुभव से उपजी 'जनवाणी' है। यह संस्कृत की 'संस्कारपूता' को छोड़कर सुखग्राह्य निबन्धना है। इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ चतुष्टय का लक्ष्य रखा गया है। यहाँ 'काम' को भी समाज में निन्दनीय नहीं माना है।

अमिअं पाउअ कव्वं पढिउं सोउं अ जे ण आणन्ति।

कामस्स तत्ततन्ति कुणन्ति ते कहं ण लज्जन्ति।।

प्राकृतभाषाओं के रस, महिलाओं के विभ्रम, कवियों की उक्तियां, बालकों की तोतली बोली किसके मन को आकर्षित तक नहीं करती,

गाहाण रसा महिलाण विब्भमा कइजणाण उल्लावा

कस्स न हरंति हिययं बालाण य मम्मणुल्लावा।।

लेकिन जब अरसिक जन प्राकृत काव्य सीखने लगते हैं तब प्राकृत गाथा बेचारी रो पड़ती है, क्योंकि वे लोग उसे उसी प्रकार नोंच खरोंच डालते हैं जिस प्रकार कोई अनाड़ी दुहने वाला गाय के थन को नोंच खरोंच डालते है।

गाहा रूअइ वराई सिक्खिज्जंति गवारलोएहिं।

कीरइ लुंच पलुंचा जह गाइ मंद दोहेहि।।

कविता का महत्व बतलाते हुए कहा गया है-

पखिड्ढइ विण्णाणं संभाविज्जइ जसो विढपयन्ति गुणा।

सुव्वइ सुउरिसचरिअं किं तं जेण ण हरन्ति कव्वालावा।। - सेतुबन्धम्

कविता विस्तीर्ण करती है रचनाकार और पाठक दोनों के ज्ञान को उसका संसर्ग यश फैलाता है, गुण विकसित करता है और तो और सत्पुरुषों के चरित से जोड़ता है। गुणों की कीमत बतलाते हुए कहा गया है कि-

गुणेहि नसंपइ कित्ति पर फल लिहिआ भुञ्जन्ति।

केसरि न लहइ बोड्डिअ वि गय लक्खेहि घेप्पन्ति।।

गुणों से सम्पत्ती भले न मिले, कीर्ति मिलती है

मानव के भाग्य में लिखा भोग जरूर मिलता है।

शेर कोडियो के भाव नहीं बिकता, हाथी बेचा जाता है लाखों में।

प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् गोविन्दचन्द पाण्डेय ने प्राकृत सुभाषितों को दुर्लभ कहा है एवं उसकी हिन्दी छाया में अभिव्यक्ति इस प्रकार की है-

धीरच्चिअ रक्खन्ता गरुअम्पि भरं धरेन्ति णवर सप्पुरिसा।
णाणं च्चिय अमुअन्ता णीसेसं तिहुअणं तवेन्ति रविअरा।।
धैर्यमेव रक्षन्तोगरुकमपि भारं धारयन्ति केवलं सत्पुरुषाः।
स्थानमेवामुञ्चन्तो निःशेषं त्रिभुवनं तापयन्ति रविकराः।।

छाया -

यह कैसा संसार अहो है, सब कुछ उल्टा पुल्टा दिखता
थोड़ी मदिरा मद ना करती, पर वही अधिक हो जाए तो
मद कर जाती, पर लक्ष्मी थोड़ी आ जाए, तो इठलाती,
खूब ऐठती औ मदमाती कही अधिक वह हो जाए तो,
थाह न मिलती, पता न चलता, छिपी छिपी सी खूब समाती
जैसे किरणें सूरज की ही, नहीं छोड़ती गगन राह को
फिर भी खूब तपाती रहती, तीन लोक को।।
यह कैसा संसार अहो है! सब कुछ उल्टा पुलटा दिखता।।

लोकजीवन के दैनन्दिन अनुभवों पर आधारित एक गाथा जिसमें कहा गया है कि दरिद्रता को गुणीजनों, त्यागियों एवं पढ़े लोगों से ज्यादा अनुराग होता है-

जे जे गुणिणो जे जे च चाइणो जे विडढ्ढविणाणा।
दारिद्द रे विअक्खण ताण तुमं साणुराओ सि।

अर्थात्- ये ये गुणिनो ये ये च त्यागिनो ये विदग्ध विज्ञानाः।
दारिद्रय रे विचक्षण तेषां त्वं सानुरागोऽसि।।

यही बात संस्कृत साहित्य में भी लिखी है-

दारिद्रय भोस्त्वं परमं विवेकि गुणाधिके पुंसि सदानुरक्तम्।
विद्याविहीने गुणवर्तिते च मुहूर्तमात्रं न रतिं करोषि।।

प्राकृत मुक्तकों में सभी रसों का आनन्द लिया जा सकता है।

शान्त रस-

मनुष्य जीवन बीत जाता है, यह क्षणिक है जल के समान है उसके बाद भी लोग निष्ठुर क्यों बन जाते हैं ? प्राकृत में अभिव्यक्त-

वरिससयं णरआउ, तस्स वि अद्वेण हुंति राईओ।
अद्धस्स वि अद्धयरं हरइ जरा बालभावो य।।
जीयं जलबिंदुसमं उप्पजइ जोव्वणं सह जराए।

दियहा दियहेहिं समा ण हुंति किं णिट्ठुरो लोओ।।

करुणरस-किसी प्रेषित बहू का पति प्रवास में ही मर चुका है (उसे पता नहीं है), प्रत्येक दिन जब वेणी बांधकर गृह शिखर से कौआ उड़ाने लगती है, तब सारा गांव रो पड़ता है।

अमुणिय पिय मरणाए वायसमुड्डाविरीइ धरिणीए।
रोवाविज्जइ गामो अणुदियहं वद्धवेणीए।।

इसी तरह एक गाथा में अतिथि सत्कार के लिए कंगन बेचे जाने पर गांव वालों को रोता देखा गया।

हास्यरस- कंजूस यह जानकर पृथ्वी में अपना धन गाड़ देते हैं कि हमें एक दिन रसातल में जाना ही है, तो पहले से ही प्रस्थान क्यों न रख दें।

णिहणंति धणं धरणीयलंमि इय जाणिऊण किविण जणा।
पायाले गंतव्वं ता गच्छउ अग्गठाणं पि।।

वीभत्सरस- रणभूमि में घायल पड़े वीर की आंते गृघ्र खींच रहे हैं, परन्तु वह असह्य होने पर भी उस पीड़ा को सह रहा है कि पास में पड़े स्वामी की मूर्छा गृध्रों के पंखों की हवा से टूट न जाय, यथा-

पक्खणिलेण पहुणो विरमउ मुच्छ त्ति पास पडिएण।
गिद्धंत कड्ढणं दूसहं पि साहिज्जइ भडेण।।

शिक्षाएं:

मूलु छंडि जो डाल चडि कहं तय जोयाभास।
चीरु ण वुण्णइ जाइ वढ विणु उट्टिमयइं कपास।। - पाहुणदोहा
मूल को छोड़कर जो चढ़ता है डालपर
कहां होती है उसे लक्ष्य की प्राप्ति ?
कैसे बुना जा सकता है वस्त्र कपास को ओटे बिना।

निदोष कोई नहीं ?

णिद्दोसो ण हु कोइ वि ण हु कोइ वि सबहा गुणविमुक्को।
खीरसमुद्दे वि विसं रउणाणि व विसहर-सिरेसु।। -अलंकार रत्नाकर
नहीं निर्दोष होता पूरी तरह कोई
और कोई पूरी तरह गुणविहीन
क्षीरसागर से भी विष निकलता है
और पाए जाते हैं मणिरत्न विषधर के शरीर में भी।

मात्र औषधि जानने से रोग ठीक नहीं होता-

णाणी खवेदि कम्मं णाण बलेणेदि बोल्लदे अण्णाणी

वेज्जो भेसज्यमहं, जाणे इदि णस्सदे वाही।। - रयणसार

-ज्ञानी ज्ञान के बल से कर्मों का क्षय करता है

अज्ञानी मात्र औषधि जानकर सन्तुष्ट हो जाता है

औषधि जानने मात्र से व्याधि दूर होगी क्या ?

एक पत्नी वाले पुरुष की श्रेष्ठता बतलाते हुए कहा गया है कि

वीर हलिओ विदुभक्ता अन्नमज्जो गेणेहिं रहिओ वि।

या सगुणो बहुभज्जो नइ राया चक्कवट्टी वि।। - णाणपंचमी कहा

हे मित्र! हलवाला भी हो, गुणों से रहित भी हो पर एक पत्नी भक्त हो तो वह पति है। लेकिन ठीक इसके विपरीत राजा भी हो चक्रवर्ती भी हो पर बहुपत्नी वाला हो तो वह बेकार है।

मुनि और दरिद्र की तुलना- दरिद्र सेवक भूमि पर शयन करता है, जीर्ण चीर बांधता है, ब्रह्मचर्य का पालन करता है और भिक्षा मांगता है, यद्यपि वह इस प्रकार मुनियों की सदृशता करता है परन्तु उसे मुनियों के समान धर्म प्राप्त नहीं होता,

भूमी सयणं जर चीर बंधणं वंभचरेयं भिक्खा।

मुणिचरियं दुग्गयसेवयाण धम्मो परं णत्थि।।

पालि काव्य-

त्रिपिटक में मुक्तक एवं गेय काव्यत्व- समन्तपासादिकापालि अट्ठकथा में संयुत्तनिकाय के सम्पूर्ण सगाथवग्ग को गेय माना है।

सब्बं पि सगाथकं सुत्तं गेय्यं ति वेदितब्बं।

विसेसेन संयुत्त के सकलो पि सगाथवग्गो।। - भाग १, पृ० २५

गेय संस्कृत के 'गेय' के तुल्य है जिसका तात्पर्य छन्दोबद्ध रचना से होना चाहिए। आचार्य नरेन्द्र देव ने गेय्य और गाथा को किसी छन्द विशेष में न मानकर श्लोकों का संग्रह मात्र माना है। संयुत्तनिकाय में वंगीस भिक्षु का परिचय कवि के रूप में मिलता है भिक्षु अवस्था के पूर्व वंगीस ने अपना जीवन कविता जीवी के रूप में बिताया था। ये घूमते हुए कविता पढ़ते रहते थे। वंगीस भिक्षु अपनी तुरन्त रचित गाथाओं से प्रमुख भिक्षुओं सहित भगवान की स्तुति करते हैं।

दिवाविहारा निक्खम्म, सत्थुदस्सन कम्यता।

सावको ते महावीर, पादे वन्दति वंगीसो ति।।

भगवान इनकी कविता शक्ति पर आश्चर्य प्रगट करते हैं।

सुत्तनिपात के छन्दों में वैदिक ग्रन्थों की भांति आठ अक्षरों वाले अनुष्टुप, ग्यारह अक्षर वाले त्रिष्टुप् तथा बारह अक्षर वाले छन्द अधिक हैं। छन्द की गाथाओं में सात-सात, आठ-आठ पद तक है। डॉ वापट ने इन्हीं कारणों को दिखलाकर लिखा है कि सुत्तनिपात अत्यंत प्राचीन है, क्यों कि वेद को छोड़कर पीछे छन्द की यह स्वतंत्रता देखने को नहीं मिलती । कुछ गाथाएं अर्थसम और विषम छन्दों में हैं तथा कुछ पांच छः या सात पदों की है जिन्हे गाथा छन्द कहा जाता है।

उदान में वर्णित है कि भगवान सोण नामक भिक्षु से पूछते हैं कि उसने धर्म को कैसे समझा तो सोण भिक्षु सोलह अष्टक वर्गों को सस्वर सुना देता है इसका अनुमोदन करते हुए भगवान कहते हैं कि साधु भिक्षु, सोलह अष्टक वर्गों को उसने अच्छी तरह से समझा है, याद किया है। (पृष्ठ १३२) धम्मपद में 'महाप्रज्ञ' के लिए भाषा और काव्य को जानकार आवश्यक बतलाया गया है। वह अक्षरों के पहले व पीछे रखने को जानता है।

वीततण्हो अनादानो निरुत्तिपदकोविदो
अक्खरानं सन्निपातं जञ्ञा पुव्वपरानिच ।
स व अन्तिमसरीरो महापञ्ञोति वुच्चति ।। - धम्मपद २४/१६

धम्मपद में परवर्ती सन्तसाहित्य में प्रचलित उलटवासी के बीज मिलते हैं ।

मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वेच खत्तिये।
[illegible] सानुचरं हन्त्वा अनीघो याति ब्राह्मणो ।। २१/५
वेय्यग्घपंचमम् हन्त्वा अनीघो याति ब्राह्मणो ।

यहाँ पर तृष्णा को माता, अंहकार को पिता, शाश्वतवाद एवं उच्छेदवाद को दो क्षत्रिय तथा रूप विज्ञान आदि उपादानों को अनुचर सहित राष्ट्र एवं ज्ञान के आवरण को व्याघ्र बताकर इन्हे मारने की सलाह दी गयी है।

संयुत्तनिकाय में ऐसे बहुत संदर्भ प्राप्त होते है, जिसमें कोई देवपुत्र गाथा में प्रश्न पूछता है। यह प्रश्नोत्तरी काव्यात्मक आख्यान के अच्छे संदर्भ हैं-

अन्तो जटा बहि जटा जटाय जटिता पजा।
तं तं गौतम पुच्छामि को इमं विजटये जटं ।।
सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो, चित्तं पञ्ञं च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु, सो इमं विजटये जटं ति।।

पश्चात इन्हीं गाथाओं के आधार पर आचार्य बुद्धघोष ने श्री लंका में अट्ठ कथा का ज्ञान प्राप्त किया एवं विशुद्धिमग्ग की रचना की । कुछ यक्ष प्रश्न दिये गये है।

यक्ष आकर पूछता है कि मैं तुमसे प्रश्न पूछूंगा यदि उत्तर न दे सके तो छाती चीर दूंगा, या पैरं पकड़कर गंगा में फेंक दूंगा । भगवान कहते हैं ऐसा सम्भव नहीं फिर भी प्रश्न पूछो, यक्ष पूछता है कि कैसे प्रज्ञालाभ होता है ? धन कैसे कमाया जाता है ? कीर्ति कैसे प्राप्त होती है ? मित्रों को कैसे अपनाया जाता है ? इस लोक से परलोक तक कैसे शोक नहीं करता ?

भगवान उत्तर देते हैं कि अप्रमत्त और विचक्षण पुरुष सेवा करके प्रज्ञा लाभ करता है। अनुकूल काम करने वाला परिश्रमी उत्साही, धन कमाता है। सत्य से कीर्ति प्राप्त होती है। कुछ देकर मित्रों को प्राप्त करता है।

जिस गृहस्थ के सत्य दम, त्याग, और शान्ति ये चार धर्म होते हैं वह कहीं भी शोक नहीं करता। यह दूसरे श्रमणों और ब्राहमणों से भी पूछा जा सकता है। पूर्व पक्ष के रूप में लोक जीवन की अच्छी झांकी मिलती है।

नन्दति पुत्तेहि पुत्तिमा, गोमिको गोहि तथ्रेव नन्दति।
उपधीहि नरस्स नन्दना, न हि सो नन्दति यो निरूपधीति

उत्तर- सोचति पुत्तेहि पुत्तिमा, गोमिको गोहि तथेव सोचति ।
उपधीहि नरस्स सोचना न हि सो सोचति यो निरूपधीति ।

मातरं कुटिकं ब्रूसि, भरियं ब्रूसि कुलावकं।
पुत्ते सन्तानके ब्रूसि, तण्हं मे ब्रूसि बन्धनं 'ति'।

प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन जगह-जगह मिलता है एवं उसे ध्यान में उद्दीपक बताया गया है... वर्षा काल है। सुन्दर नीली ग्रीवा वाले, कलंगीधारी मोर अपने सुन्दर मुखों से बोल रहे हैं कितनी मधुर है उनकी कूजन । विस्तृत पृथ्वी चारों ओर हरियाली से भरी हुई है। सारी सृष्टि जल से ब्याप्त है। आकाश में जल पूरित कृष्ण मेघ छाये हुये है। ध्यान के लिए यह उपयुक्त अवसर है। भिक्षु को प्रसन्नता है कि उसका ध्यान अत्यन्त सुचारू रूप से चल रहा है । बुद्धशासन के अभ्यास में वह अप्रमादी है। प्रकृति के उल्लास के साथ भिक्षु भी है।

संयुत्तनिकाय के सगाथ वग्ग में तत्कालीन समाज में प्रचलित मान्यताओं एवं बुद्ध विचारों का भेद स्पष्ट पता चलता है। देवता आकर कहता है।

अरण्ये विहरन्तानं, सन्तानं ब्रह्मचारिनं।
एकभत्तं भुंजमानानं, केन वण्णो पसीदति।।

उत्तर- अतीतं नानुसोचन्ति, नप्पजप्पन्ति नागतं
पच्चुप्पन्नेन यापेन्ति, तेन वण्णो पसीदति।।[१५]

पूर्वपक्ष- खत्तियो द्विपदं सेट्ठो, बली बद्दो चतुप्पदं।
कोमारी सेट्ठा भरियानं, योच पुत्तानं पुब्बजो'ति

उत्तर- सम्बुद्धो द्विपदं सेट्ठो आजानीयो चतुप्पदं।
सुस्सूसा सेट्ठा भरियानं, योच पुत्तानमस्सवो।।

थेरगाथा-एवं थेरीगाथा में भिक्षु भिक्षुणिओं का प्रकृति प्रेम परिलक्षित होता है।

भिक्षुओं के जीवन के अनुभव प्रकृति से जुड़े है। गिरि, गुहा, नदी, तट, वन प्रस्थ, पुआल, पुंज अथवा किसी छाई हुयी या बिना छायी हुयी कुटिया में ध्यान करते हुए भिक्षुओं को वर्षा आदि ऋतुओं के परिवर्तन का और पृथ्वी और आकाश के अनेक रंगों और रूपों के परिवर्तन का साक्षात् अनुभव होता था। प्रकृति के अनेक रूपों की प्रतिक्रिया उनके चित्त पर कैसी होती है इसके चित्र थेरगाथा में देखे जा सकते है।

कृषि भरद्वाज सुत्त में रूपक के माध्यम से भगवान् की कृषि का प्रतिपादन किया गया है।

'सद्धा बीजं तपो बुट्ठि, पञ्ञा में युगनंगलं।
हिरि ईसा मनो योत्तं, सति मे फाल पाचनं ।।
कायगुत्तो वचीगुत्तो, आहारे उदरे यतो।
सच्चं करोमि निद्दानं, सोरच्चं में पमोचनं।। विरियं.....
एवमेसा कसी कट्ठा, सा होति अमतप्फला।
एतं कसिं कसित्वान, सब्बदुक्ख पमुच्चति 'ती।।१७

समाज एवं व्यक्ति को जागृत करते हुए कहा है कि -

पंडुपलासो'व दानि'सि यमपुरिसापि च तं उपट्ठिता।
उय्योमुखे च तिट्ठसि पाथेय्यम्पि च ते न विज्जति।। -धम्मपद, १८/१
वनं छिन्दथ मा रुक्खं वनतो जायतो भयं।
छेत्वा वनञ्च वनथञ्च निब्बाना होथ भिक्खवो।। - धम्मपद २०/११

जातको में प्रतिपादित व्यंग्य काव्यात्मक रूप लिये हैं । एक बन्दर कुछ दिनों के लिए मनुष्यों के बीच में आकर रहा । लौटने पर साथियों ने पूछा मनुष्यों का बर्ताव कैसा है? बन्दर ने कहा... "हिरण्य मेरा, सोना मेरा, ऐसा रात दिन चिल्लाते रहते है। एक की मूंछ नहीं होती....... उसके लम्बे केस होते है। बेणी होती है। कानों मे छेद

होते है उसे बहुत से धन से खरीदा जाता है। यह सब जनों को कष्ट देता है। इतना सुनते ही बन्दरों ने आगे सुनने से इनकार कर दिया। मत कहें मत कहें"। इसी तरह कई जातक विनोद से भरे है। वानरेन्द्र जातक में मगरगच्छ अपनी स्त्री के कहने पर वानर का हृदय चाहता था। वानर अपनी चतुरता से बच निकला। रोहणी जातक में मक्खी हटाने के लिए दासी ने माता को मूसल से मार दिया। संक्षिप्त नाटक के रूप में उम्मदंती जातक उल्लेखनीय है। मललसेकर के अनुसार जातकों का संबंध भारतीय साहित्य की उस आख्यान विधा से है जिससे उत्तरकालीन महाकाव्यों का विकास हुआ।

इतिवुत्तक खुद्दकनिकाय का ग्रन्थ है। नामकरण का आधार है कि 'ऐसा बुद्ध ने कहा' ११२ एवं ४ निपातों में विभक्त संख्या के आधार पर विभाजित है। यह याद करने की सुविधा के लिए है। संस्कृत एवं जैन बौद्धों का प्राचीन साहित्य इसी शैली में है। गणनात्मक होते हुए भी इसकी स्वाभाविकता में कोई बाधा नहीं पहुँचती । अलंकार विहीन सौंदर्य नैसर्गिक रूप में मिलता है। यह गद्य पद्य मिश्रित है। यह उदान की तरह प्रामाणिक बुद्ध वचन है। उदान हर्षातिरेक से निकले बुद्धवचन है। जटिल सिद्धान्त भी उदान में अत्यन्त सहज भाव में प्रकट हुए हैं। जैसे लोहे के घन की चोट पड़ने पर जो चिन्गारियां उठतीं हैं, तुरन्त ही बुझ जाती है। कहाँ पर गयीं कुछ पता नहीं चलता। इसी प्रकार काम बन्धन से मुक्त हो निर्वाण पाये हुए तथा अत्यन्त सुख पाये हुए जन की गति का कोई पता नहीं लगा सकता।

विभिन्न प्रसंगों में श्रृंगार के विभाव को शान्त रस से सामंजस्य का एक अनुपम उदाहरण देखा जा सकता है।

न ताव सुपितं होति रत्ति नक्खत्तमालिनी
पटि जग्गितुमेवेसा रत्ति होति विजानता।

ध्यान सुख को संगीत के आनन्द से श्रेष्ठ बताया गया है।

पंचाङ्गिकेन तुरियेन न रत्ति होति तादिसी ।
यथा एकग्गचित्तस्स सम्मा धम्मं विपस्सतो।।

भरतसिंह का विचार है कि बौद्ध संत महिलाओं की थेरी गाथा भारतीय गीत काव्य की विशेषतया आध्यात्मिक गीत काव्य की अतुल सम्पत्ति है। जयदेव, चण्डीदास, मीरा या ऋग्वेद की गीतिपरक ऋचाओं से भी अपना विशेष मानवीय सौंदर्य और पीड़ा की गहनता और विविधता लिये हुये है। संयुत्तनिकाय के सगाथवग्ग को जिसे विशेष गेय्य की संज्ञा दी गई है, गाथाएं संगीतात्मक रूप लिए हुए हैं। इन गाथाओं के माध्यम से समाजिक सन्दर्भों को लेकर अच्छा संवाद है, जिसे आज कव्वाली आदि में देखा जा सकता है। संयुत्तनिकाय के एक गाथात्मक संवाद का उदाहरण इस प्रकार है-

प्रश्न- किं ददो बलदो होति, किं ददो होति वण्णदो।
किं ददो सुखदो होति, किं ददो होति चक्खुदो
को च सब्बददो होति, तं में अक्खाहिं पुच्छतो। ति

उत्तर- अन्नदो बलदो होति, वत्थदो होति वण्णदो।
यानदो सुखदो होति, दीपदो होति चक्खुदो।।
सो च सब्बददो होति, यो ददाति उपस्सयं।
अमतंददो च सो होति, यो धम्ममनुसासती।।

पालि साहित्य को किसी धार्मिक सम्प्रदाय मात्र का साहित्य नहीं कहा जा सकता। वह जाति, धर्म रहित विश्व मानव का साहित्य है। संकुचित राष्ट्रीय आदर्शों की अभिव्यक्ति इसमें नहीं है।

विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से भरतसिंह ने माना है कि अर्थगौरव और प्रभावमयी ओजस्विनी भाषा-शैली किसी भी साहित्य से टक्कर ले सकती है। संस्कृत काव्य से तुलना करते हुए कहा गया है कि भारतीय साहित्य के इतिहास में पालि का स्थान संस्कृत से व्यतिरिक्त नहीं, संस्कृत साहित्य रूपी महा समुद्र में पालि महासागर का एक आवर्त है। भारत के बाहर देशों में पालि संस्कृत से कहीं अधिक प्रभावशीलता में बढ़ गयी है। तथागत की संदेशवाहिका होने के कारण पालि जैसी प्रादेशिक भाषा को विश्व स्तरीय सौभाग्य मिला।

पालि भाषा का एशिया में विकास अन्य भाषाओं की तरह साम्राज्यवाद के कारण नहीं बल्कि 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' के कारण हुआ। अशोक पुत्र महेन्द्र का जयघोष उल्लेखनीय है जब वे श्रीलंका में जाकर कहते हैं कि तुम्हारे ऊपर अनुग्रह करने के लिए जम्बूदीप से आये हैं।

'त्वेव अनुकम्पाय जम्बूदीपा इधागता।'

आधार ग्रन्थ

१. संयुत्तनिकायपालि, नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा वंगीससंयुत्त, पृ० १६३
२. सुत्तनिपात, सम्पादक, भिक्षु धर्मरक्षित, प्रकाशक- मोतीलाल बनारसीदास, पृष्ठभूमि
३. पालि साहित्य का इतिहास, भरतसिंह उपाध्याय पृ० ३२०,
४. थेरीगाथा
५. पालि प्राकृत काव्य, सम्पादक-तुलसी रमण, राष्ट्रपति भवन, शिमला, २००३

● प्राकृत काव्य सम्मेलन, श्रवणबेलगोला में पढ़ा गया।



तीर्थंकर/बुद्ध

तथागत गौतम बुद्ध बौद्धधर्म के संस्थापक हैं, साथ ही बुद्ध परम्परा के अन्तर्गत २५वें बुद्ध। भगवान् महावीर भी जैनधर्म के अन्तिम २४वें तीर्थंकर हैं एवं जैनधर्म के पुनरुद्धारक। तीर्थ या धर्म की स्थापना करने वालों को तीर्थंकर कहा जाता है। बुद्ध भी तीर्थंकरों के समान ही धर्म की स्थापना करने वाले हैं। भगवान् महावीर एवं अन्य तीर्थंकरों को, राग-द्वेष आदि कर्मों को जीतने के कारण 'जिन' कहा जाता है और उनके अुनयायियों को आज 'जैन' कहा जाता है। उसी प्रकार बुद्ध के अनुयायियों को 'बौद्ध' कहा जाता है।

तीर्थंकर/बुद्ध

तीर्थ या धर्म संघ की स्थापना करने वालों को तीर्थंकर कहा जाता है। बुद्ध भी तीर्थंकरों के समान धर्म की स्थापना करने वाले हैं। भगवान् महावीर को तीर्थंकर एवं भगवान् गौतम बुद्ध को बुद्ध संज्ञा प्रयुक्त हुई है। दोनों में प्रायः समान रूप से बुद्धों एवं तीर्थंकरों की मान्यता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से जैन तीर्थंकर ऋषभदेव, नेमिनाथ एवं पार्श्वनाथ की परम्परा के उद्धरण मिलते हैं, जबकि गौतम बुद्ध के पूर्व बुद्धों की गणना या उल्लेख अन्य भारतीय साहित्य में नहीं है। आज भी जैन अनुयायी भगवान् महावीर के अतिरिक्त पूर्व तीर्थंकरों की भी उसी श्रद्धा के साथ पूजा करते हैं एवं मूर्ति स्थापित करते हैं जबकि बौद्ध परम्परा में अन्तिम गौतम बुद्ध की ही प्रसिद्धि हैं।

भगवान् महावीर को राग, द्वेष आदि कर्मों को जीतने के कारण जिन कहा जाता है। उनके अनुयायी इसी आधार पर आज 'जैन' कहलाते हैं। बौद्ध यह संज्ञा भी उनके अनुयायियों की बुद्ध के कारण प्रयुक्त हुई हैं। कहीं-कहीं भगवान् बुद्ध को भी जिन कहा गया है।

जैन तीर्थंकरों की विशेषताएं हैं कि वे स्वयं सम्बुद्ध होते हैं। ऐश्वर्यशाली, प्रातिहार्य युक्त है। उनकी संख्या निश्चित होती है। उनको मनुष्यवत् भूख, प्यास आदि नहीं सताती। वे सर्वज्ञ या केवली होते है। भगवान् बुद्ध के भी जन्म से ही प्रातिहार्य आदि वर्णित है। वे स्वयं सम्बुद्ध होते हैं। प्रारम्भिक बौद्धधर्म में भगवान् बुद्ध को मनुष्यवत् बतलाया गया है। वे भूख, प्यास एवं बीमारी आदि से पीड़ित होते हैं, लेकिन महायान में

उनके लौकिक रूप को भुलाकर लोकोत्तर रूप माना है। जो जैन तीर्थंकर एवं अवतार के अधिक समीप है। सर्वज्ञता की बात भी तीर्थंकरों के अनुरूप बुद्धों में पाई जाती है। यद्यपि यह स्वयं बौद्ध परम्परा में विवाद का विषय है, क्योंकि पालि त्रिपिटकों में सर्वज्ञता को लेकर जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर की आलोचना की गई है।

जैन एवं बौद्ध धर्म-परम्परा में तीर्थंकर एवं बुद्ध के चरित्र एवं वर्णन प्रसंगों में काफी समानता प्रतीत होती है। जैन परम्परा में तीर्थंकरों के वर्णन प्रसंग में उनके नाम व स्थान जहाँ से वे प्रादुर्भूत हुए, माता-पिता का नाम, वंश, आयु, ऊँचाई, चिह्न, वर्ण, तपस्या, आसन, निर्वाण-स्थल एवं महत्त्व की पाँच तिथियों का वर्णन मिलता है-गर्भ, जन्म, तप, केवलज्ञान और निर्वाण। बौद्ध परम्परा में भी प्रायः समान रूप से बुद्धों के वर्णन मिलते हैं' यथा-बुद्धों का नाम, कितने पूर्व का समय, कल्प, नगर, माता-पिता, स्त्री-पुत्र, गृही-जीवन, गृहत्याग का वाहन, तपश्चर्याकाल, बोधिवृक्ष, अग्रश्रावक, अग्रश्राविका, परिचारिका का नाम, श्रावक सम्मेलन, आयु। भगवान् महावीर के पंचकल्याणकों की तरह तथागत बुद्ध की भी पाँच तिथियों का महत्त्व है- प्रतिसन्धिग्रहण एवं जन्म, गृहत्याग, बोधिलाभ, धर्मचक्रप्रवर्तन एवं परिनिर्वाण।

तीर्थंकर बनने के संस्कार षोडशकारण अत्यन्त विशुद्ध भावनाओं द्वारा उत्पन्न होते हैं। तीर्थंकरों के सम्बन्ध में विशिष्ट मान्यताएं हैं, जैसे-तीर्थंकर माता का दूध नहीं पीते, उनको गृहस्थावस्था में ही अवधिज्ञान होता है पर उसका प्रयोग नहीं करते, उनके शरीर की अपनी विशेषताएं होती हैं। जैसे मूंछ दाढ़ी नहीं होती लेकिन सिर पर बाल होते हैं। मनुष्य गति में ही इनकी प्रतिष्ठापना होती है। इसी प्रकार बुद्धत्व प्राप्ति के लिए कुछ मूलभूत आवश्यकताएं बतलाई गई हैं जिनसे अभिनीहार की सिद्धि होती है। यथा-मनुष्यभव, लिंगसम्प्राप्ति हेतु, शास्ता का दर्शन, प्रव्रज्या, गुण सम्प्राप्ति, अधिकार, छन्दता तथा दस पारमिताओं की पूर्ति। स्वयं गौतम बुद्ध ने बोधिसत्त्व के रूप में ५५० बार विविध योनियों में जन्म लेकर पारमिताओं की पूर्ति की थी।

पारमिताओं की पूर्ति पर बोधिसत्त्व, तुसितलोक में देव पुत्र के रूप में जन्म लेते हैं, तत्पश्चात् देवताओं द्वारा याचना किये जाने पर पंचमहाविलोकन करते हैं, अर्थात् काल, द्वीप, देश, कुल, माता तथा उनकी आयु पर विचार करते हैं।

जैन तीर्थंकर

१. श्री ऋषभनाथ, २. अजितनाथ, ३. संभवनाथ, ४. अभिनन्दननाथ, ५. सुमतिनाथ, ६. पद्मप्रभ, ७. सुपार्श्वनाथ, ८. चन्द्रप्रभ, ९. सुविधिनाथ,

१०. शीतलनाथ, ११. श्रेयांसनाथ, १२. वासुपूज्य, १३. विमलनाथ, १४. अनन्तनाथ, १५. धर्मनाथ, १६. शान्तिनाथ, १७. कुन्थुनाथ, १८. अरहनाथ, १६. मल्लिनाथ, २०. मुनिसुव्रत, २१. नमिनाथ, २. नेमिनाथ, २३. पार्श्वनाथ, २४. महावीर।

बुद्ध

१. दीपंकर, २. कोण्डिन्य, ३. मंगल, ४. सुमन, ५. रेवत, ६. शोभित, ७. अनोमदर्शी, ८. पद्‌म, ८. नारद, १०. पद्‌मोत्तर, ११. सुमेध, १२. सुजात १३. प्रियदर्शी, १४. अर्थदर्शी, १५. धर्मदर्शी, १६. सिद्धार्थ, १७. तिष्य, १८. पुष्य, १६. विपश्यी, २०. शिखी, २१. विश्वभू, २२. ककुसन्ध, २३. कोणागमन, २४. काश्यप, २५. गौतमबुद्ध।

भगवान महावीर एवं जैन तीर्थकरों को जिन कहा जाता है। पालि एवं बौद्ध साहित्य में भगवान बुद्ध को भी जिन का सम्बोधन किया गया है। इसीलिए पाश्चात्य विद्वानों को पहले जैनधर्म एवं बौद्धधर्म के एक होने का भ्रम हुआ था। जैन सहस्रनाम स्तोत्र में आदिनाथ के १००८ नाम गिनाए गए हैं उनमें उनको बुद्ध भी कहा गया है। वस्तुतः 'जिन' यह गुणवाचक संज्ञा हैं, जिसने राग, द्वेष, मोह आदि शत्रुओं को जीता है वह जिन है। वह कोई भी हो सकता है।

- जिसने राग-द्वेष कामादिक जीते सब जग जान लिया,
  सब जीवों को मोक्षमार्ग का निस्पृह हो उपदेश दिया
  बुद्ध, वीर, जिन, हरि, हर, ब्रह्मा या उसको स्वाधीन कहें।
  भक्तिभाव से प्रेरित हो यह चित्त उसी में लीन रहे।।

- भव बीजांकुर जन्मा रागाद्यमुपगता यस्य
  ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरि जिनो वा नमस्तस्मै।।

संदर्भ-संकेत

१. निदानकथा-बुद्धघोष
२. बुद्धवंश
३. बुद्ध, तीर्थंकर एवं अवतार-रमेशचन्द्र गुप्त
४. विस्तार के लिए देखिए-परिशिष्ट



भगवान महावीर एवं गौतम बुद्ध

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में जब तथागत बुद्ध एवं भगवान महावीर का आविर्भाव हुआ, लोग अपने त्यागमय आदर्शों से च्युत हो रहे थे। विद्वज्जगत् में नियमन के बिना अराजकता का विस्तार था। आध्यात्मिक विषयों को सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा था। एक ओर संशयवाद की प्रभुता थी, दूसरी ओर अन्धविश्वास की। दर्शन के मूल तथ्यों की अत्यधिक मीमांसा इस युग की विशेषता थी। विचार के साथ ही सदाचार का ह्रास हो रहा था। धर्म के बाह्य अनुष्ठानों ने धर्म के भीतरी रहस्य को भुला दिया था। आडम्बरों, देवतावाद, एकेश्वरवाद और कर्मकाण्ड के अनुष्ठान की ओर आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया जाता था।

तथागत बुद्ध एवं भगवान महावीर ने अनाचार से सदाचार की ओर तथा अन्धविश्वास से तर्क की ओर मोड़ दिया। मानवता के प्रति लोगों के हृदय में आदर का भाव बढ़ाया। निर्वाण की प्राप्ति व्यक्ति के प्रयत्नों के आधार पर साध्य बतलाई तथा वैराग्य की पवित्रता को प्रदर्शित किया।

बुद्ध एवं महावीर दोनों ही श्रमण संस्कृति के पोषक थे। इनके अनुयायी आज बौद्ध एवं जैन धर्म के नाम से जाने जाते हैं। भगवान महावीर एवं बुद्ध दोनों क्षत्रिय थे। भगवान् महावीर की पूज्य माता वैशाली गणतन्त्र के राजा चेटक की पुत्री त्रिशला थी। पिता सिद्धार्थ वैशाली के एक उपनगर कुण्डग्राम के शासक थे। भगवान महावीर को वैशालीय भी कहा जाता है।

तथागत बुद्ध के बचपन का नाम सिद्धार्थ था। जबकि सिद्धार्थ नाम महावीर के पिता का था। बुद्ध के पिता शुद्धोदन भी शाक्यवंशीय राजा थे तथा माता महामाया थीं। तथागत बुद्ध एवं महावीर दोनों ने ही क्षत्रिय कुल में जन्म लेना उपयुक्त समझा था। श्वेताम्बर जैन ग्रन्थों में यह भी लिखा है कि भगवान महावीर का जन्म पहले ब्राह्मण माता की कुक्षि में हुआ लेकिन बाद में उसे क्षत्रिय माता के यहाँ बदला गया। गर्भ के समय बुद्ध एवं महावीर की माता को स्वप्नदर्शन हुआ। जैन परम्परा में १४ एवं १६ स्वप्नों की मान्यता है। बुद्ध की माता को बोधिसत्त्व के कुक्षि में प्रवेश के स्वप्न पर विचार करने पर इनकी महानता का बोध हो जाता है।

दोनों के जन्म से चमत्कार एवं श्रीवृद्धि हुई। विशिष्ट ज्ञानधारी होते हुए भी शिक्षा के लिए आचार्य के पास गए। भगवान् बुद्ध ने गृहत्याग २९ वर्ष की अवस्था में किया; महावीर ने ३० वर्ष की अवस्था में। तथागत बुद्ध ने ६ वर्ष तक कठोर तपस्या

की एवं ज्ञान प्रक्रिया में समय लगा, भगवान् महावीर ने १२ वर्ष तक कठोर तपस्या की। भगवान् बुद्ध ४५ वर्ष उपदेश देते हुए विचरते रहे, भगवान् महावीर ३० वर्ष तक। तथागत बुद्ध का परिनिर्वाण ८० वर्ष की अवस्था में हुआ, महावीर का ७२ वर्ष की अवस्था में हुआ। दोनों के विचरण स्थल समान प्रदेश थे। दोनों ने चतुर्विध संघ की स्थापना की। बुद्ध ने भिक्षुणी संघ की स्थापना बाद में की।

ज्ञान-प्राप्ति के बाद भगवान् बुद्ध ने पहले अनिच्छा प्रकट की, तत्पश्चात् ब्रह्मा की प्रार्थना स्वीकार कर पंचवर्गीय भिक्षुओं को उपदेश दिया। भगवान् महावीर के प्रथम उपदेश के लिए भी देवताओं ने पृष्ठभूमि तैयार की एवं समवशरण की स्थापना की। दोनों ने लोकभाषा को महत्त्व दिया। बुद्ध ने मागधी भाषा में एवं महावीर ने अर्धमागधी भाषा में उपदेश दिया।

भगवान् महावीर एवं बुद्ध दोनों के श्रद्धालु उपासक राजा एवं सम्मानित से लेकर दलित वर्ग तक थे। दोनों ने कर्मणा वर्णव्यवस्था का महत्त्व प्रतिपादित किया। भगवान् बुद्ध एवं महावीर को विविध बाधाओं एवं दुष्परिणामों आदि को भी सहन करना पड़ा। जैसे-भिक्षान्न में बाधा आदि।

अन्य मतावलम्बियों द्वारा गाली एवं पत्थर आदि से चोट, जिसे बुद्ध एवं महावीर अपने अलौकिक प्रभाव से ग्रहण करते थे। दोनों को एक मानव की तरह कष्ट की अनुभूति होती थी। बुद्ध एवं महावीर एक समय एवं एक स्थानों में रहते हुए भी साक्षात् मिले हों ऐसा कोई संदर्भ नहीं मिलता, लेकिन उनके शिष्य एक दूसरे से मिलते थे एवं वाद-विवाद होता था। भगवान् बुद्ध के बहुत से शिष्य निगण्ठों के अनुयायी हो गए थे एवं कई निगण्ठों के शिष्य बुद्ध के अनुयायी हो गए थे।

भगवान् महावीर एवं बुद्ध दोनों ने अपने वचनों को पूर्व तीर्थंकरों एवं बुद्धों के द्वारा कथित बतलाया है, लेकिन बुद्धों की पूर्व परम्परा का अभी तक कोई साक्ष्य नहीं मिला है, जबकि पूर्व तीर्थंकर ऋषभदेव एवं पार्श्वनाथ की परम्परा के विभिन्न साक्ष्य मिलते हैं। स्वयं बौद्ध अनुयायी पूर्व बुद्धों की कोई पूजा या उत्सव नहीं मनाते हैं जबकि जैन परम्परा में पूर्व तीर्थंकरों की प्रतिमाएं एवं उनके उत्सव आदि भगवान् महावीर के अनुरूप ही मनाये जाते हैं।

भगवान् बुद्ध के आविर्भाव के पूर्व निगण्ठों की परम्परा विद्यमान थी। भगवान् बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्ति के पूर्व जो उपवास, ध्यान, मौन एवं कायोत्सर्ग किया था एवं केशलोंच आदि किए थे, वे निगण्ठों (जैनों) के अनुरूप थे, लेकिन तथागत बुद्ध ने उनको निःसार जानकर त्याग दिया एवं मध्यममार्ग का प्रतिपादन किया।

तथागत बुद्ध ने और भी कई शिक्षाओं में निगण्ठों का अनुकरण किया। जैसे-वर्षावास के नियम प्रतिपादन में, तृणघास आदि के बचाव में बुद्ध ने प्रव्रज्या के सम्बन्ध में यह नियम बाद में बनाया कि प्रव्रंज्या के पूर्व माँ-बाप की आज्ञा अनिवार्य है। वह भी उनके पिता शुद्धोदन ने निवेदन किया कि प्रव्रज्या के पूर्व माँ-बाप की आज्ञा होनी चाहिए, क्योंकि माँ-बाप को कृष्ट होता है। भगवान् महावीर ने यह बात उसी समय सोच ली थी जब वे गर्भ में थे, क्योंकि उनको माँ के दर्द की अनुभूति हो गई थी।

दोनों महापुरुषों ने पूर्वाचार्यों (तीर्थंकर, बुद्ध) की महत्ता को स्वीकार किया है। व्यक्ति के श्रम को महत्त्व दिया, अपने को सृष्टिकर्ता ईश्वर नहीं माना।

"तुम्हेहि किच्चं कातत्वं अक्खातारो तथागता।"

बुद्ध ने अपना उत्तराधिकारी धर्म बतलाया। जैनपरम्परा में भी उत्तराधिकारी के रूप में गुण की मान्यता है।

भगवान् महावीर की तपस्या के समय जहाँ उनकी सहनशक्ति प्रदर्शित होती है, वहीं अहिंसा का प्रभाव महात्मा गांधी में देखा जा सकता है।

जैनपरम्परा में मोक्षमार्ग के रूप में सम्यक्‌दर्शन, सम्यक्‌ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र को मोक्ष का मार्ग माना गया है। बौद्ध धर्म के आर्य अष्टांगिक मार्ग में रत्नत्रय समाहित हैं। बौद्ध प़रम्परा में पंचपरमेष्ठी को नमस्कार किया जाता है तथा व्यक्ति के स्थान पर गुणी अरिहंत आदि की शरण स्वीकार की गई है, उसी प्रकार बौद्ध परम्परा में बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि जब कहते हैं तो वहाँ गुणों को ही महत्त्व दिया गया है।

दोनों महापुरुषों के उद्देश्यों में समानता के साथ कई मौलिक विषमताएं भी हैं। जैनधर्म जहाँ शुद्ध आत्मवादी दर्शन है, वहीं बौद्ध धर्म विशुद्ध अनात्मवादी दर्शन है। जैन धर्म में जहाँ अनेकान्तवाद के रूप में दोनों सत्यों को स्वीकार किया गया है, वहीं बौद्ध परम्परा में दोनों को अस्वीकार करके मध्यममार्ग की बात कही गई हैं। धम्मपद में मन की प्रधानता स्पष्टतः बतलाई गई है।

मनोपुब्बङ्गमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया,
मनसा च पदुट्ठेन भासति वा करोति वा
ततो नं दुक्ख मन्वेति चक्कं वा वहतो पदं।।
मनोपुब्बङ्गमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया
मनसा च पसन्नेन भासति वा करोति वा
ततो नं सुक्ख मन्वेति छाया व अनुपायनी। - धम्मपद

जैन धर्म में स्पष्टतः मन, वचन एवं काय तीनों की प्रधानता स्वीकार की है। पालिनिकायों में भगवान् बुद्ध एवं भगवान (निगण्ठ नाठपुत्त) के शिष्यों में संवाद के सन्दर्भ भी देखे जा सकते है।

जैन परम्परा में गृहस्थ के कर्तव्यों में छः कर्तव्य बतलाए गए हैं- देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप एवं दान। बौद्ध परम्परा में भी माता-पिता, आचार्य, पत्नी एवं पुत्र, मित्र, दास, दासी तथा श्रमण ब्राह्मण की सेवा को छः दिशाओं की पूजा कहा गया है।

सभी प्राणियों के प्रति करुणाभाव तथा मानव समाज में समानता के स्वर भी दोनों महापुरुषों की वाणी में पाते हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि आज भी दोनों महापुरुषों की शिक्षाएं मानव या समस्त प्राणी के लिए कल्याणकारी एवं प्रासंगिक हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तीर्थंकरों एवं बुद्धों की मान्यताओं में काफ़ी समानता है। भगवान् महावीर एवं बुद्ध की परिस्थितियां एवं जीवन में भी समानता है।

सन्दर्भ-संकेत

१. वर्धमान कोष, सम्पादक, मोहनलाल बाठिया एवं श्रीचन्द जैन; दर्शन समिति, कलकत्ता, १६८०।

२. तीर्थंकर वर्धमान महावीर, पं. पद्मचन्द्र शास्त्री, श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इंदौर, १६७४।

३. जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

४. निदानकथा, सम्पादक महेश तिवारी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १६७०।

दृष्टव्य - ,

भगवान महावीर एवं गौतम बुद्ध - डॉ. कामता प्रसाद जैन, विश्व जैन मिशन, अलीगंज एटा

- आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस, ३३वां अधिवेशन, कलकत्ता में पढ़ा गया लेख एवं साध्वीरत्न पुष्पवती अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित



जैन एवं बौद्ध परम्परा में निर्ग्रन्थ विवेचन

श्रमण परम्परा की जैन और बौद्ध दो प्रमुख शाखाएं हैं, जिसमें बौद्ध परम्परा के पूर्व जैन परम्परा श्रमण परम्परा के रूप में विकसित हो चुकी थी। जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर महावीर एवं भगवान बुद्ध का समय एक ही था, दोनों के विचरण स्थल भी एक ही थे। इन दोनों महापुरुषों का कभी साक्षात्कार हुआ हो, ऐसा कोई प्रसंग ग्रन्थों में नहीं मिलता है, लेकिन इनके अनुयायी आपस में मिलते रहे हैं। दोनों के विचारों में काफी आदान-प्रदान होता रहा है तथा दोनों ही श्रमण परम्परा के पोषक रहे हैं।

जैन परम्परा अनादिकालीन है, भले ही जैन शब्द बहुत प्राचीन नहीं है। हमारे तीर्थंकरों को पहले अर्हत्, जिन, निर्ग्रन्थ आदि नामों से पुकारा जाता था। यही कारण है कि जैन परम्परा की प्राचीनता को लेकर लोगों में भ्रम पैदा होते रहते हैं। बौद्ध साहित्य में भगवान महावीर एवं उनके अनुयायियों को क्रमशः निगण्ठनाठपुत्त एवं निगण्ठ कहा गया है। विद्वान इस बात को स्वीकार कर चुके हैं कि ये सन्दर्भ भगवान महावीर के ही हैं।

(क) जैन परम्परा में निर्ग्रन्थ

निष्परिग्रह के अर्थ में:- धवला में कहा गया है कि व्यवहार नय की अपेक्षा क्षेत्रादिक (बाह्य) ग्रन्थ हैं, क्योंकि वे आभ्यन्तर ग्रन्थ (मिथ्यात्वादि) के कारण हैं, और इनका त्याग निर्ग्रन्थता है। निश्चय नय की अपेक्षा मिथ्यात्वादिक (अभ्यन्तर) ग्रन्थ हैं क्योंकि वे कर्मबन्ध के कारण हैं और इनका त्याग करना निर्ग्रन्थता है। नैगमनय की अपेक्षा रत्नत्रय में उपयोगी पड़ने वाला जो भी बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह (ग्रन्थ) का परित्याग है उसे निर्ग्रन्थता समझना चाहिए।

"ववहारणयं पडुच्च स्वेत्तादी गंथो, अब्भंतरंग कारणत्तादो। एतदस्य परिहरणं णिग्गंथं। णिच्छयणयं पडुच्च मिच्छत्तादी गंद्यथो, कम्मवंधकारणत्तादो। तंसिं परिच्यागो णिग्गंथं। णड़गमणएण तिरयणाणुवजोगी बज्झब्भ तरपरिग्गहपरिच्याओ णिग्गंथं।" - धवला ६/४, १, ६७/३२३/७

भगवती आराधना में कहा गया है कि- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय को यहाँ निर्ग्रन्थ शब्द द्वारा कहा गया है।

तत् त्रितयमिह निर्ग्रन्थशब्देन भव्यते। - आ./वि./४३/१४२/२

व्यवहारनय से नग्नत्व को यथाजातरूप कहते हैं और निश्चयनय से स्वात्मरूप को। इस प्रकार के व्यवहार व निश्चय यथाजात रूप को धारण करनेवाला यथाजातरूपधर

कहलाता है। 'निर्ग्रन्थ होना' इसका ऐसा अर्थ है। "व्यवहारेण नग्नत्वं यथाजातरूपं निश्चयेन तु स्वात्मरूपं तदित्थं भूतं यथाजातरूपं धरतीति यथाजातरूपधरः निर्ग्रन्थो जात इत्यर्थः। - सा./ता. वृ./ २०४/२७ ८/१५

निर्ग्रन्थ साधु विशेष के अर्थ में :- जिस प्रकार जल में लकड़ी से की गयी रेखा अप्रगट रहती है, इसी प्रकार जिनके कर्मों का उदय अप्रगट रहता है, इसी प्रकार जिनके कर्मों का उदय अप्रगट हो और अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् ही जिन्हें केवलज्ञान व केवलदर्शन प्रगट होने वाला है, वे निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

उदकदण्डरजिवर्दनभिव्यक्तोदयकर्माणः ऊर्ध्व मुहूर्त्तादुद्भिद्यमान-केवलज्ञानदर्शनभाजो निर्ग्रन्थाः। - सर्वार्थसिद्धि/६/४६/४६०/१०

तत्त्वार्थसूत्र में निर्ग्रन्थों के पांच भेद्र बतलाए हैं- "पुलाक-बकुश-कुशील-निर्ग्रन्थ-स्नातकाः निर्ग्रन्थाः।" - तत्त्वार्थसूत्र ६/४६

ये निर्ग्रन्थ सभी तीर्थंकरों के शासन में होते हैं। तत्त्वतः 'निर्ग्रन्थ' वह है जिसमें राग-द्वेष की ग्रन्थि का अभाव हो, किन्तु व्यवहार में अपूर्ण होने पर भी जो तात्त्विक निर्ग्रन्थता का अभिलाषी है, भविष्य में वह स्थिति प्राप्त करना चाहता है, उसे भी निर्ग्रन्थ कहा जाता है। अतः चारित्र परिणाम की हानि, वृद्धि एवं साधनात्मक योग्यता के आधार पर निर्ग्रन्थ को पांच भागों में विभाजित किया गया है- १ पुलाक, २ बकुश, ३. कुशील, ४. निर्ग्रन्थ तथा ५. स्नातक। मूल गुण तथा उत्तर गुण में परिपूर्णता प्राप्त करते हुए भी जो वीतराग-मार्ग से कभी विचलित नहीं होते, वे 'पुलाक निर्ग्रन्थ' हैं। शरीर और उपकरणों के संस्कारों का अनुसरण करने वाले सिद्धि तथा कीर्ति के अभिलाषी, सुखशील, अविवक्त परिवार वाला, सबल अतिचार दोषों से युक्त को 'बकुश निर्ग्रन्थ' कहते हैं। इन्द्रियों के वशवर्ती होने से उत्तमगुणों की विराधनामूलक प्रवृत्ति करने वाला 'प्रतिसेवना कुशील' और कभी-कभी तीव्र कषाय के वश न होकर कदाचित् मंद कषाय के वशीभूत हो जाने वाला 'कषाय कुशील' हैं। सर्वज्ञता न होने पर भी जिसमें राग-द्वेष से अत्यन्त अभाव हो और अन्तर्मुहूर्त बाद ही सर्वज्ञता प्रकट होने वाली हो, उन्हें 'निर्ग्रन्थ' कहते हैं तथा जिसमें सर्वज्ञता प्रकट हो गई हो, वह 'स्नातक' कहलाता है। णाह, णाय, णात ये सब एक अर्थ के वाचक हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार भगवान महावीर णाह वंश या नाथवंश के क्षत्रिय थे।

कुण्डपुरपुरवरिस्सर सिद्धत्थक्खत्तियस्स णाहकुले।
तिसिलाए देवीए देवीसदसेवमाणाए।। -जयधवला, भा.१, पृ. ७८
- णाहोग्गवंसेसु वि वीर पासा। -तिलोयपण्णत्ति प., अधिकार ४

श्वेताम्बर परम्परा में निर्ग्रन्थ- श्वेताम्बरीय उल्लेखों के अनुसार भगवान महावीर णाय कुल के थे।

-णातपुत्ते महावीर एवमाह जिणुत्तमे - सूत्रकृतांग १, श्रु. / अ. १ उ

-अरहा नयपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए।। वही,, श्रु-२, २ अ, २३०

साध्वी विजयश्री 'आर्या' ने अपने आलेख निर्ग्रन्थ-संघ और श्रमण परम्परा में वर्णित किया है कि जैन-श्रमणों का आगमिक एवं प्राचीनतम नाम 'निर्ग्रन्थ' है। आचार्य हरिभद्र ने 'निर्ग्रन्थ' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है- निर्गतो ग्रन्थाद् निर्ग्रन्थः। ग्रन्थ का अर्थ गांठ रूप परिग्रह है। धन-धान्यादि बाह्य परिग्रह एवं मिथ्यात्व, अविरति, अशुभोपयोगरूप आंतरिक परिग्रह से सर्वथा मुक्त श्रमण को 'निर्ग्रन्थ' कहते हैं। आचारांग में शीतोष्ण के त्यागी को 'निर्ग्रन्थ' कहा है। सूत्रकृतांग के अनुसार, राग-द्वेष से रहित होने के कारण एकाकी है, बुद्ध है, निरास्रव है?, संयत है, समितियों से युक्त है, सुसमाहित है, आत्मवाद का ज्ञाता है, विद्वान है, बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार से जिसके स्रोत छिन्न हो गये हैं, जो पूजा-सत्कार और लाभ का अर्थी नही है, केवल धर्मार्थी है, धर्मविद्, मोक्ष-मार्ग की ओर चल पड़ा है, साम्यभाव का आचरण करता है, दान्त है, बंधनमुक्त होने योग्य है और निर्ममत्व है, वह 'निर्ग्रन्थ' कहलाता है। ब्राह्मण से श्रमण, श्रमण से भिक्षु एवं भिक्षु से निर्ग्रन्थ का दर्जा ऊँचा है।

इस तरह भगवान महावीर को 'नाए नायपुत्ते नायकुलनिव्वत्ते विदेहे विदेहजच्चे विदेह सूमो तीसं वासाइ विदेहं सित्तिं कट्ट आगारमज्झे विसित्त' (आचा. सू. २-३-४०२) इत्यादि लिखा है। जिसका आशय है कि भगवान महावीर नाथ या ज्ञातृकुल के और विदेह देश के थे।

श्वेताम्बर परम्परा में भगवान महावीर का ज्ञातृ कुल वर्णित है, जबकि दिगम्बर परम्परा में नाथ। इस सन्दर्भ में वर्धमान कोश के प्राक्कथन में प्रसिद्ध इतिहासविद डॉ. ज्योतिप्रसाद जी का कहना है कि दिगम्बर आचार्य पूज्यपाद (५वीं शती) ने भगवान महावीर को ज्ञातृवंश का चन्द्रमा कहा है। इसके अतिरिक्त भी दिगम्बर परम्परा में इसकी पुष्टि होती है। आचार्य उमास्वामि ने लिखा है- :जो कर्मग्रन्थों के विजय के लिए प्रयास करता है, वह 'निर्ग्रन्थ' है।

अचेलकत्व -

चेल शब्द परिग्रह का उपलक्षण है अतः चेल शब्द का अर्थ वस्त्र ही न समझकर उसके साथ अन्य परिग्रहों का भी ग्रहण करना चाहिये। वस्त्र मात्र का त्याग करने

पर भी यदि अन्य परिग्रहों से मनुष्य युक्त है तो इसको संयत मुनि नहीं कहना चाहिये। अतः वस्त्र के साथ सम्पूर्ण परिग्रह त्याग जिसने किया है वही अचेलक माना जाता है।[1] सुत्तपाहुण में कहा गया है कि पांच महाव्रत ही निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग है और वही वन्दनीय है। जो पांच महाव्रत और तीन गुप्तियों से सहित है वही संयत-संयमी-मुनि होता है और जो निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग को मानता है वही वन्दना करने के योग्य है अर्थात्- जो पुरुष, प्राणातिपात-हिंसा, अनृत-असत्यभाषण, अदत्त-चोरी, सुरत-स्त्रीसंयोग और परिग्रह- अन्तरंग बहिरंग परिग्रह-इन पांच पापों से सर्वथा विरत होता है, वह पंचमहाव्रत का धारी कहलाता है। इसके विपरीत जो थोड़ा भी परिग्रह स्वीकृत करता है वह अणुव्रती गृहस्थ अथवा अव्रती कहलाता है। जब साधु वस्त्र आदि परिग्रह को स्वीकृत करता है तब उन वस्त्र आदि में चीलर एवं जुएं आदि त्रीन्द्रिय जीव उत्पन्न हो जाते हैं। यदि उन जीवों को वस्त्र आदि से अलग करके दूसरे स्थान पर डाला जाता है तो वे मर जाते हैं और उनके मरने पर साधु हिंसा से रहित कैसे हो सकता है? संक्षेप में यही समझना चाहिये कि परिग्रही मनुष्य महाव्रती नहीं हो सकता। कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति ये तीन गुप्तियां हैं। जो मुनि पांच महाव्रतों तथा तीन गुप्तियों से युक्त होता है, वह संयमी कहलाता है। साथ ही जो मुनि-निर्ग्रन्थ-निष्परिग्रह अवस्था को ही मोक्षमार्ग मानता है, वह स्पष्ट रूप से वन्दना करने के योग्य है। इसके विपरीत जो सग्रन्थ-सपरिग्रह अवस्था को मोक्षमार्ग मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, जैनाभास है तथा वन्दना के अयोग्य है।[2] तिल तुषमात्र परिग्रह का धारी मुनि निगोद का पात्र है। नग्न मुद्रा के धारकमुनि तिलतुष मात्र भी परिग्रह अपने हाथों में ग्रहण नहीं करते। यदि थोड़ा बहुत ग्रहण करते हैं, तो निगोद जाते हैं।[3] अर्थात् 'यथा-जात' तत्काल उत्पन्न हुए बालक को कहते हैं, उसके समान जिनका रूप है वे सर्वज्ञ वीतराग हैं, उनके सदृश नग्न शरीर को धारण करने वाले निर्ग्रन्थ साधु अपने हाथों में तिल की भुसी बराबर भी परिग्रह नहीं रखते। यदि कदाचित अपने उदर पोषण की बुद्धि से थोड़ा बहुत रखते हैं तो उसके फलस्वरूप निगोद को प्राप्त होते हैं। परिग्रहवान मुनि, निन्दनीय है।

जस्स परिग्गहगहणं अप्पबहुयं च हवईलिंगस्स।
सो गरहिउ जिणवयणे परिगहहिओ निरायारो।।[4]

अर्थात् जिस वेष में थोड़ा या बहुत परिग्रह का ग्रहण होता है वह निन्दनीय है क्योंकि जिनवाणी में परिग्रह रहित को ही मुनि बताया है।

भाव पाहुण में कहा है कि भाव रहित जीव ने अनेक बार निर्ग्रन्थ मुद्रा धारण की है।

भावरहिएण सउरिस अणाइकालं अणंतसंसारे।

गहिउज्झियाइं बहुसो बाहिरनिग्गंथरूवाइं ।।[५]

हे सत्पुरुष ! तूने भाव-रहित होकर अनादिकाल से इस अनन्त संसार में बहुत बार बाह्य निर्ग्रन्थ मुद्रा को ग्रहण किया तथा छोड़ा है। अर्थात्- हे सत्पुरुष! आत्मस्वरूप को भावना से रहित होकर तूने अनादि काल से इस अनन्त संसार में अनेकों बार बाह्य निर्ग्रन्थ मुद्रा को धारण किया तथा छोड़ा पर उससे तेरा कुछ भी कल्याण नहीं हुआ। अन्तर्वर्त्ती भाव दोष से रहित होता हुआ तू जिनलिंग-निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा को धारण कर, क्योंकि अन्तरंग के दोष से यह जीव बाह्य पदार्थों के संपर्क में पड़कर मलिन हो जाता है।[६] संस्कृत टीका-कार श्री श्रुतसागरजी सूरि गाथा का भाव निम्न प्रकार प्रकट करते हैं। हे आत्मन्! तू पहले जिनलिंग को धारण कर अर्थात् पहले नग्न हो पीछे अभ्यन्तर भाव अर्थात् जिन सम्यक्त्व के परिणाम से दोष रहित हो। तात्पर्य यह है कि द्रव्यलिंग के बिना भावलिंगी होने पर भी अर्थात् सम्यग्दृष्टि होने पर भी यह जीव मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है, क्योंकि शिवकुमार मुनि भावलिंगी अर्थात् सम्यग्दृष्टि होकर भी स्वर्ग गये थे, न कि मोक्ष। और जम्बूस्वामी के भवान्तर वर्णन में भव-देव बड़े कष्ट से, द्रव्य-लिंगी हुआ था। बाद में भावलिंग के द्वारा मोक्ष प्राप्त हुआ था। भावमल अर्थात् अपरिशुद्ध परिणाम के द्वारा जिन-सम्यक्त्व से रहित होने के कारण यह जीव बाह्य पदार्थों का संग होने पर मलिन हो जाता है अर्थात् सम्यक्त्व के बिना निर्ग्रन्थ भी सग्रन्थ हो जाता है। यहां द्रव्य-लिंग और भावलिंग के विषय में एकान्त का पक्ष छोड़कर स्याद्वाद की पद्धति पर सात भंगों की योजना करना चाहिए।

भाव प्राभृत में कहा है कि मुनि पहले मिथ्यात्व आदि दोषों को छोड़कर भाव से नग्न होता है फिर जिनेन्द्र की आज्ञानुसार द्रव्य से लिंग प्रकट करता है-नग्न वेष धारण करता। यहाँ भाव का अर्थ परम धर्मानुराग रूप जिन सम्यक्त्व है। मुनि पहले मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग रूप आश्रव द्वारों को छोड़कर भाव से नग्न होता है। फिर जिनेन्द्रदेव की आज्ञानुसार द्रव्यलिंग को प्रकट करता है। यहाँ द्रव्य लिंग और भाव लिंग को बीजांकुर न्याय से परस्पर संलग्न जानना चाहिये अर्थात्-जिसप्रकार बीज के बिना अंकुर और अंकुर के बिना बीज नहीं होता, उसी प्रकार से भाव लिंग के बिना द्रव्य लिंग और द्रव्य लिंग के बिना भाव लिंग नहीं होता[७] तथा उसे देखने वालों के मन में भी कोई वासना या विकार का भाव नहीं आता। जैन मुनि अपने वस्त्रों का परित्याग कर अपनी प्राकृतिक अवस्था की ओर लौट आते हैं। उनकी स्थिति यथाजात बालक की तरह निर्विकार रहती है। दिगम्बरत्व की प्रतिष्ठा में गांधी जी के निम्न वाक्य दृष्टव्य हैं- ''वास्तव में देखा जाय

तो कुदरत ने चर्म के रूप में मनुष्य को योग्य पोशाक पहनाई है। नग्न शरीर कुरूप दिखाई पड़ता है, ऐसा मानना हमारा भ्रम मात्र हैं उत्तम से उत्तम सौन्दर्य के चित्र नग्नावस्था में ही दिखाई पड़ते हैं। मनुष्य का उत्तम से उत्तम रूप उसकी नग्नावस्था में ही है और उसी में उसका आरोग्य है। शरीर का दिगम्बरत्व स्वयं साध्य नहीं साधन है। दिगम्बरत्व के बिना मोक्ष की उपलब्धि नहीं होती है। इस बात को बतलाते हुये आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने जहाँ एक ओर कहा है कि

णग्गो हि मोक्ख मग्गो ऐसा उम्मग्ग गया सव्वे।[८]

अर्थात् दिगम्बर रूप ही मोक्षमार्ग है शेष सब उन्मार्ग हैं। वहीं यह भी लिखा है कि शारीरिक दिगम्बरत्व के साथ-साथ मानसिक दिगम्बरत्व भी अनिवार्य है। तन नग्न होने के साथ-साथ मन का नग्न होना भी आत्म-साधना के लिये अनिवार्य है। यदि शरीर की नग्नता साधन न होकर स्वयं साध्य होती तो जन्म से ही दिगम्बरत्व रहने वाले पशु-पक्षी आदि सभी प्राणियों को कभी की मुक्ति मिल गयी होती।[९]

भाव से ही नग्नत्व -

भाव से नग्न होता है, बाह्य लिंग रूप नग्न वेष से क्या साध्य है? अर्थात् कुछ नहीं, भावसहित द्रव्यलिंग के द्वारा ही कर्मप्रकृतियों का समूह नष्ट होता है।[१०] भाव अर्थात् जिन सम्यक्त्व से ही निर्ग्रन्थ रूप प्राप्त होता है। पशुओं के समान केवल बाह्य-लिंग रूप नग्न मुद्रा धारण करने से मोक्ष रूप कार्य सिद्ध नहीं होता। कर्मों की एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों का समूह भाव और द्रव्य दोनों लिंगों के धारण करने से ही नष्ट होता है। जो मिथ्यादृष्टि गृहस्थ होते हुए भी कहते हैं कि हमारे मुनि का भाव विद्यमान है तथा स्त्रियों के साथ रहते हुए ब्रह्मचर्य का सेवन करते हैं वे लोग चार्वाकों के समान नास्तिक हैं। उनके मत का निराकरण करने के लिये कुन्दकुन्दाचार्य स्वामी ने यह वचन कहा है 'णासइ भावेण दव्वेण' अर्थात् भावपूर्वक द्रव्यलिंग के ग्रहण करने में ही कर्म प्रकृतियों का समूह नष्ट होता है, केवल भाव से अथवा केवल द्रव्य से नष्टं नहीं होता। इस व्यवस्था के बल से वे नास्तिक पहले की तरह शिक्षा देने योग्य हैं। जिनेन्द्र भगवान् ने भाव रहित नग्नत्व को अकार्य- कार्य-रहित कहा है, ऐसा जान कर हे धीर पुरुष! निरन्तर आत्मा की भावना करना चाहिये।

जो व्यापार-बाह्यव्यापार से रहित है। ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना, चारित्राराधना और परम तपश्चरणाराधना रूप-चार प्रकार की आराधना में हमेशा लगे रहे हैं और जो निर्ग्रन्थ और निर्मोही हैं-ऐसे साधुगण होते हैं।[११]

अचेलक के कारण व प्रयोजन -

वस्त्र रहित यति सर्व परिग्रह का त्याग होने से त्याग नामक धर्म में प्रवृत्त होता है, अकिंचनधर्म में प्रवृत्त होता है। आरम्भ का अभाव होने से असंयम भी नष्ट हो चुका है। असत्य भाषण का कारण ही नष्ट हो गया है। अचेलकत्व से लाघवगुण प्राप्त होता है। अचौर्य महाव्रत की पूर्व अवस्था प्राप्त होती है। रागादिक का त्याग होने से परिणामों में निर्मलता आती है; जिससे ब्रह्मचर्य निर्दोष होता है, उत्तमक्षमा गुण प्रकट होता है; मार्दव गुण प्राप्त होता है; आर्जवगुण की लब्धि होती है। घोर तप का पालन भी होता है। लोभादिक कषायों का अभाव होता है। ध्यान स्वाध्याय निर्विघ्न होते हैं, परिग्रह त्याग नाम गुण प्रकट होता है; इससे आत्मा निर्मल होती है। स्ववशता गुण प्रकट होता है।

जितने तीर्थंकर हो चुके और होने वाले हैं वे सब वस्त्र रहित होकर ही तप करते हैं। नग्नता में अपना बल और वीर्य प्रकट करना, वह गुण है। नग्नता में दोष तो है ही नहीं, परन्तु गुण मात्र अपरिमित है।

जैन मुनि किसी प्रकार का वस्त्र/आवरण अपने शरीर पर नहीं डालते। वे दिशाओं को ही अपना वस्त्र बना नग्न दिगम्बरत्व रूप धारण करते हैं। मनुष्य का प्राकृतिक रूप ही दिगम्बरत्व है। वस्त्र विकारों को टांगने का साधन है- जैसे जन्म लेते समय बालक नग्न रहता है उस क्षण उसके अन्तस् में किसी प्रकार का विकार नहीं रहता।

(ख) बौद्ध परम्परा में निर्ग्रन्थ-

बौद्धग्रन्थों में भगवान महावीर अपनी जाति तथा वंश के आधार पर णाटपुत्त कहे जाते थे। संस्कृत में यह ज्ञातिपुत्र है, जिसका अर्थ ज्ञाति का पुत्र।

श्री बेवर ने अपनी पुस्तक 'इण्डियन सेक्ट आफ जैनाज' में माना है कि बुद्ध के लिए शाक्यपुत्रीय श्रमण' शब्द का प्रयोग है, अतः निगंठों या निर्ग्रन्थों के प्रमुख नाटपुत्त या ज्ञातिपुत्र हैं। ज्ञातृवंश के उत्तराधिकारी तथा निर्ग्रन्थ अथवा जैन समुदाय के अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान एक ही व्यक्ति हैं। बौद्ध ग्रन्थों में निगंठ नाटपुत्त के सन्दर्भ में कहा गया है कि वे अपने को अर्हत् और सर्वज्ञ कहते हैं .. अपने शरीर को ढ़ाकने से घृणा करते थे। इनको प्रभावशाली भी बतलाया गया है।

नाटपुत्त (महावीर) पर टिप्पणी में राहुलजी ने बुद्धचर्या में लिखा है - 'नाटपुत्त' ज्ञातृपुत्र। ज्ञातृ लिच्छवियों की एक शाखा थी, जो वैशाली के आसपास रहती थी। ज्ञातृ से ही वर्तमान जथरिया शब्द बना है। महावीर और जथरिया दोनों का गोत्र काश्यप है। आज भी जथरिया भूमिहार ब्राह्मण इस प्रदेश में बहुत संख्या में है। उनका निवास र्‍नी परगना भी ज्ञातृ=नत्ती=लत्ती=रत्ती से बना है।

दीघनिकाय में लिखा है कि निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र संघ के नेता हैं, गणाचार्य हैं, दर्शन-विशेष के प्रणेता हैं, विशेष विख्यात हैं, तीर्थंकर हैं, साधु-सम्मत, बहुजन पूज्य, चिर प्रव्रजित एवं वय को प्राप्त हैं। मज्झिमनिकाय में भी भगवान् महावीर को 'निर्ग्रन्थ' शब्द से संबोधित किया है। यहां पार्श्वनाथ परम्परा के साधुओं का उल्लेख करते हुए कहा है- 'यहां एक चातुर्याम संवर से संवृत्त सब वारि (पाप) से निवारित, सब वारितों का निवारण करने में तत्पर, सब वारि (पाप) से धुला हुआ, सब वारि (पाप) से छूटा हुआ निर्ग्रन्थ (जैन साधु) है। भगवान् महावीर के समय ही उनके श्रमणों के लिए भी 'निर्ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग बौद्धों के त्रिपिटक साहित्य में विभिन्न स्थानों पर देखने को मिलता है। दीघनिकाय में उल्लेख है कि 'कौशल का राजा पसेनदी (प्रसेनजित) निर्ग्रन्थ को नमस्कार करता था। उसकी रानी ने निर्ग्रन्थों के उपयोग के लिए भवन बनाया।' महावग्ग में लिखा है कि एक 'बड़ी संख्या में निर्ग्रन्थ वैशाली में सड़क और चौराहों पर दिखाई देते थे। उपालिसुत्त में उल्लेख है कि 'भगवान् महावीर जब नालन्दा में विहार कर रहे थे, उस समय उनके साथ एक बड़ी संख्या में निर्ग्रन्थ साधु थे। वे दीर्घ तपस्वी थे।

उक्त उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि जैन और बौद्ध साहित्य में 'निर्ग्रन्थ' शब्द 'जैन-श्रमण' के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। स्वयं गौतम बुद्ध ने महावीर को 'निगंठ नातपुत्त' एवं उनके अनुयायी श्रमणों को 'निग्गंठ' कहकर संबोधित किया है। महावीर ने भी अपने श्रमण एवं श्रमणियों के लिए स्थान-स्थान पर 'निग्गंथा, निग्गंथीण, निग्गंथीओ' कहकर उल्लेख किया है, अतः यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि महावीर के समय यह धर्म 'निर्ग्रन्थ धर्म' के रूप में प्रसिद्ध हो गया था। इस शब्द का अधिकाधिक प्रयोग आगम, चूर्णि, भाष्य, निर्युक्ति आदि में होने लगा था, किन्तु इसकी प्राचीनता महावीर से पूर्व काल में ही देखी जाती है।

बौद्ध-ग्रन्थ अंगुत्तर निकाय, चतुक्कनिपात एवं उसकी अट्ठकथा में गौतम बुद्ध के चाचा 'बप्प' नाम के शाक्य को निर्ग्रन्थ श्राबक बतलाया है, जो महावीर एवं बुद्ध से पहले इस धर्म के अनुयायी थे। पालि-साहित्य में 'बप्प' के अतिरिक्त उपालि, अभय, अग्निवेश्यायन आदि और भी कई नाम हैं, जो पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। डॉ. हर्मन जेकोबी ने त्रिपिटक साहित्य के आधार पर यह प्रमाणित किया है कि गौतम बुद्ध के पूर्व अर्थात् महावीर के जन्म से भी पहले 'निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय' विद्यमान था और उसके हजारों अनुयायी श्रमण निर्ग्रन्थ के रूप में विचरण करते थे। इस कथन का एक अन्य आधार और भी है कि पालि त्रिपिटक में वर्णित 'सच्चक' द्वारा महावीर के संवाद करने का आख्यान उपलब्ध होता है। सच्चक के पिता भी निर्ग्रन्थ श्रावक थे।

प्रियदर्शी सम्राट अशोक भले ही बौद्ध धर्मानुयायी हो गया था किन्तु जैन-धर्म के सिद्धान्तों एवं जैन श्रमण परम्परा का प्रभूत प्रभाव उसके मानस-पटल पर था। इसीलिए उसने अपने स्तंभ-लेखों में यह आज्ञा खुदवाई कि- 'मेरे धर्म महामात्य निर्ग्रन्थों की सुख-सुविधा एवं पर्याप्त सुरक्षा आदि की सुव्यवस्था करेंगे।'

संयुत्तनिकाय के अनुसार यह ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध भगवान् महावीर से आयु में छोटे थे। कोसल राजा प्रसेनजित निगण्ठनाटपुत्त सहित अन्य आचार्यों की प्रसिद्धि की भी बात करते हैं। इनको 'सिद्धिनो, गणिनो, गणाचरिया, ञाता, यसस्सिनो, तित्थकरा, साधुसम्मता बहुजनस्स' कहा गया है।[१२] निगण्ठनाटपुत्त का समाज में प्रतिष्ठा एवं सम्मान प्राप्त था। उनके संघ में साधुओं एवं श्रावकों की संख्या भी अधिक थी।[१३]

इनके श्रद्धालुओं में कोसल राजा प्रसेनजित भी थे। एक बार जब राजा भगवान् बुद्ध के पास बैठे थे, उसी समय सात निगण्ठ अन्य साधुओं के साथ सामने से निकले। राजा, भगवान् बुद्ध के सामने से उठकर इन साधुओं को विधिपूर्वक प्रणाम करते हैं तथा भगवान् बुद्ध के पास वापस आकर इन साधुओं को लोक में विचरने वाले अर्हत कहते हैं।[१४]

निगण्ठों के श्रावकों में देवपुत्र भी थे जो निगण्ठनाटपुत्त में काफी श्रद्धा रखते थे एवं उनकी शिक्षा का प्रचार भी करते रहते थे। श्रावक निंक देवपुत्र भगवान् बुद्ध की मण्डली में निगण्ठनाटपुत्त एवं उनकी शिक्षा के सम्बंध में कहता है कि वे पाप से घृणा करने वाले, विवेकशील, चार यामों में सुसंवृत देखे-सुने को कहने वाले हैं, उनमें पाप की कोई सम्भावना नहीं है।' कुछ ऐसे भी देवपुत्र थे जो निगण्ठनाटपुत्त के प्रति संदेह व्यक्त करते थे। निंक देवपुत्र द्वारा निगण्ठनाटपुत्त की प्रशंसा किए जाने पर दूसरा देवपुत्त कहता है कि नंगा झूठा इस गण का गुरु, जिसकी चलन में संदेह किया जा सकता है, जिस प्रकार हुआ-हुआ करने वाला अदना सियार कभी सिंह के समान नहीं हो सकता उसी प्रकार ये सज्जनों के समान एकदम नहीं है, जिसका प्रतिकार देवपुत्र आकोटक यह कहकर करता है कि वे श्रामण्य पाने वाले गण के नायक हैं, ये सत्पुरुषों से दूर कभी नहीं हो सकते।[१५]

सत्तजटिल सुत्त में निगण्ठ साधुओं के सम्बन्ध में बुद्ध के क्या विचार थे, इसका विस्तृत परिचय मिलता है। जिसमें इनको सात की संख्या में, सात जटिलों सात अचेलकों सात एक साटकों तथा सात परिव्राजकों के साथ विचरते बतलाया गया है। ये सभी साधु कांख के रोयें और नाखून बढ़ाये, विविध प्रकार के सामान लिए हुए थे। भगवान बुद्ध का इन सभी साधुओं के प्रति आरोप था कि ये गृहस्थ, काम भोगी, बाल बच्चों में रहने

वाले, काशी के चन्दन को लगाने वाले, माला गन्ध और उबटन का प्रयोग करने वाले तथा धन बटोरने वाले साधु हैं। ये अर्हत् मार्ग पर कभी आरूढ़ नहीं हो सकते।"[१६]

श्रमण परम्परा में जैन बौद्ध के अतिरिक्त प्रकुधकात्यायन, मक्खलिगोसाल, पूरणकाश्यप का नाम 'संयुत्तनिकाय' में गिनाया गया है।[१७]

इस संदर्भ में कहा जा सकता है कि भगवान बुद्ध के ये आरोप निगण्ठ (जैन) साधुओं के प्रति निर्मूल थे। जैन साधु गृह-त्यागी होते हैं इसलिए काम भोग एवं बाल बच्चे तो छूट ही जाते हैं। काशी का चन्दन माला गन्ध विलेपन, उबटन आदि अन्य साधुओं की ही विशेषताएं थीं तथा धन बटोरने वाले भी परिव्राजक ही हो सकते हैं। जैसा कि विभिन्न संदर्भों में विवरण प्राप्त होते हैं। अतः यह निश्चय ही समझना चाहिए कि जैन साधुओं में ये आरोप घटित नहीं होते।

शिक्षा- 'निगण्ठनाटपुत्त' की शिक्षा के सन्दर्भ में भगवान बुद्ध असिबन्धकपुत्त ग्रामणी से पूछते हैं। ग्रामीण उनके द्वारा उपदेशित शिक्षा को 'चार पापों से नरक' की बात बतलाते हैं। ये चार पाप इस प्रकार हैं- प्राणीहिंसा, चोरी, काममिथ्याचार और झूठ।"[१८]

पालि साहित्य में निगण्ठनाटपुत्त को चार यामों से संवृत वर्णित किया गया है। जिसका उल्लेख 'संयुत्तनिकाय' में भी देवपुत्र उपासक निगण्ठनाटपुत्त' की प्रशंसा करते समय करता है।[१९] ये ४ याम दीघनिकाय में इस प्रकार वर्णित किए गये हैं-

१. जल के व्यवहार का वारण करना

२. सभी पापों का वारण करना।

३. सभी पापों के वारण करने से धुतपाप होना।

४. सभी पापों के वारण करने में लगे रहना।[२०]

ज्ञान- पालिसाहित्य में जिसे त्रिविद्या के अन्तर्गत च्युतोत्पत्ति ज्ञान कहा जाता है अर्थात् जिसमें किसी की मृत्यु पर उसकी उत्पत्ति का ज्ञान होता है ऐसे ज्ञान से युक्त निगण्ठनाटपुत्त एवं उनके प्रबुद्ध श्रावकों को बतलाया गया है। ऐसी चर्चा कुतूहल शाला में हुई थी जिसमें भगवान बुद्ध के अतिरिक्त अन्य तैर्थिक आचार्यों के शिष्यों ने भी इस ज्ञान का दावा किया है।[२१] सम्यक् सम्बुद्धत्व जिसे जैन धर्म में सर्वज्ञ की संज्ञा दी जाती है, एवं महावीर को सर्वज्ञ माना भी जाता है। संयुत्तनिकाय के दहरसुत्त में बताया गया है कि निगण्ठनाटपुत्त 'सम्यक् सम्बुद्धत्व' का दावा नहीं करते।[२२]

विचरणस्थल- संयुत्तनिकाय में निगण्ठनाटपुत्त, उनके साधुओं, निगण्ठों एवं अन्य श्रमणों को नालन्दा, मच्छिकासण्ड, श्रावस्ती-राजगृह में रहते एवं विचरण करते बतलाया गया है।

नालन्दा- यहाँ पर भगवान बुद्ध एवं निगण्ठनाटपुत्त को एक ही समय रहते हुए बताया है। उसी वर्ष नालन्दा में दुर्भिक्ष भी पड़ा हुआ था। यहाँ पर निगण्ठों का श्रावक भगवान् बुद्ध के पास जाकर विवाद करता है।

मच्छिकासण्ड- यहाँ पर निगण्ठनाटपुत्त (भगवान महावीर) अपनी निर्ग्रन्थ मण्डली के साथ ठहरे हुए थे। यहां पर बुद्ध का उपासक चित्र गृहपति भी रहता था, जो निगण्ठनाटपुत्त से आकर विवाद करता है।[२३] यह स्थान कहां था? इस पर काफी विवाद है? अट्ठकथा में इसे श्रावस्ती से ३० योजन दूर बताया गया है। भिक्षु धर्मरक्षित ने इसे वज्जि जनपद के अन्तर्गत माना है। राहुल सांकृत्यायन इसे विनयपिटक में वज्जि जनपद के अन्तर्गत एवं बुद्धचर्या में मगध के अन्तर्गत बतलाते हैं। इन सभी मतों की समीक्षा करने के बाद डॉ. भरत सिंह उपाध्याय ने अपने शोध प्रबंध में अंगुत्तरनिकाय के आधार पर इसे काशी जनपद का एक प्रसिद्ध नगर स्वीकार किया है।[२४]

श्रावस्ती- यहाँ पर सात निगण्ठों (जैन साधुओं) को अन्य तापस साधुओं के साथ विचरण करते बतलाया गया है।[२५] तथा यहीं पर कोसलराज प्रसेनजित् भगवान बुद्ध से निगण्ठनाथपुत्त सहित छः अन्यतैर्थिक आचार्यों की चर्चा करता है।[२६]

राजगृह- यहाँ पर निगण्ठ श्रावक देवपुत्र भगवान् बुद्ध के पास जाकर इनके गुणों की चर्चा करते हैं।[२७]

कुतूहलशाला- यहाँ पर भगवान् गौतम बुद्ध निगण्ठ एवं अन्य आचार्यों के शिष्यों का एक साथ उपस्थित होना बतलाया गया है। ये सभी साधु इस बात का बखान करते हैं कि उनके आचार्य मरने वालों की गति बतलाते हैं।[२८] यह कुतूहलशाला कहां थी? इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता है। संयुत्तनिकाय के अनुवाद में कुतूहलशाला का अर्थ किया गया है कि वह गृह जहाँ नाना मतावलम्बी एकत्र होकर धर्मचर्चा करते हैं और जिसे सब लोग कौतूहलवश सुनते हैं।'[२९]

परस्पर सम्बन्ध एवं वाद-विवाद (विचारों का आदान-प्रदान)- संयुत्तनिकाय के सुत्तों से पता चलता है कि महावीर एवं बुद्ध का शिष्यों के माध्यम से वाद-विवाद होता था, जिसमें तार्किक ढंग से एक दूसरे को पराजित करने एवं अपने मत की पुष्टि करने का ध्येय रहता था।

संख्यधम्मसुत्त- भगवान् बुद्ध और निगण्ठ श्रावक असिबन्धक पुत्र ग्रामणी के साथ हुई वार्ता काफी रोचक है। (इस सुत्त में) जिसमें भगवान् बुद्ध ग्रामणी से निगण्ठ की शिक्षा के सम्बन्ध में पूछते हैं। जिसके उत्तर स्वरूप ग्रामणी-हिंसा, चोरी, काममिथ्याचार,

झूठ को नरकगामी बतलाते हुए कहता है कि जो-जो अधिक करता है वैसा ही उसकी गति होती है (यं बहुलं यं बहुलं विहरति तेन तेन नीयतीति)।

ग्रामणी द्वारा इस प्रकार निगण्ठ की शिक्षा प्रतिपादित करने पर भगवान् बुद्ध उसके आखिरी शब्द को पकड़ लेते हैं कि 'जो-जो अधिक करता हैं वैसे ही उसकी गति होती है' तो कोई भी व्यक्ति पाप कर्म से नरक में नहीं जायेगा, क्योंकि व्यक्ति के रात-दिन में पाप कर्म न करने का ही समय पाप करने के समय से अधिक है। चूंकि निगण्ठों के अनुसार अधिकता के आधार पर नीच गति होती है, इसलिए हिंसा न करने का समय अधिक हुआ, और उसके आधार पर वह कम हिंसा के फल से मुक्त हो गया। इस प्रकार व्याख्या को सापेक्षता के आधार पर मोड़कर निगण्ठों की शिक्षा को उलटा सिद्ध कर देते हैं।

यहां भगवान् बुद्ध ने निगण्ठों की शिक्षा को गलत-ढंग से लिया है। ग्रामीण के कहने का जो तात्पर्य था, वह पाप न करने के समय-सापेक्ष से नहीं था कि जिसका समय अधिक होगा उसकी वैसी गति होगी, बल्कि सापेक्षता पाप कर्म की अधिकता से थी कि जो अधिक समय तक हिंसा या कोई पाप करेगा, उसको कम समय वाले से अधिक पाप लगेगा। इस प्रकार इस सुत्त में मूल से या बात को अनावश्यक रूप से घुमाकर निगण्ठनाटपुत्त की शिक्षा को उलटा सिद्ध किया गया है।[३०]

देसनासुत्त- असिबन्धपुत्त ग्रामणी जिसे निगण्ठ का शिष्य बतलाया गया है, गौतम बुद्ध के पास आकर दोतरफा प्रश्न पूछता है[३१] क्या आप सभी प्राणियों के प्रति शुभेच्छा और दया से विहार करते हैं? भगवान् के हां कहने पर पुनः पूछता है कि फिर वे किसी को बहुत अधिक प्रेम से और किसी को कम प्रेम से उपदेश क्यों देते हैं। जिसके उत्तर में भगवान् गौतम बुद्ध अपनी बात कृषक के तीन खेतों की उपमा से समझाते हैं कि जिस प्रकार कोई कृषक पहले (प्रथम) अच्छे वाले, फिर मध्यम एवं उसके बाद बुरे खेत में बीज बोता है, उसी प्रकार उनके भी भिक्षु-भिक्षुणियां प्रथम खेत के समान उपासक-उपासिकाएं मध्यम खेत के समान एवं दूसरे मतवाले श्रमण, ब्राह्मण और परिव्राजक अन्तिम बुरे खेत के समान हैं दूसरी उपमा तीन प्रकार के मटकों से भी दी, जिससे असिबन्धक पुत्त ग्रामणी संतुष्ट हुआ।[३२]

असिबन्धकपुत्तसुत्त- इस सुत्त में असिबन्ध पुत्त ग्रामणी भगवान् गौतम बुद्ध से कहता है कि पश्चिम वाले ब्राह्मण मरे लोगों को बुलाकर स्वर्ग भेज देते हैं फिर भगवान् गौतम सम्यक् सम्बुद्ध हैं। ऐसा क्यों नहीं करते कि सारा लोक मरने के बाद स्वर्ग में उत्पन्न हो। जिसके उत्तर में भगवान् उपमा देकर समझाते हैं कि कोई पत्थर जलाशय में छोड़ दें

और फिर बुलाये (हाथ जोड़कर पूजाकर आदि) कि ऊपर आ जा, लेकिन वह पत्थर ऊपर नहीं आता उसी प्रकार बुरे कर्मों का बुरा फल अवश्य मिलेगा। किसी की गति बदली नहीं जा सकती।[३३] यद्यपि इन दो सुत्तों में निगण्ठ का नाम किसी भी प्रकार से नहीं आया है लेकिन असिबन्धक पुत्त ग्रामणी निगण्ठों का श्रावक था तथा उसके प्रश्न भी कुछ तो टेढ़े ही हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि दूसरे मतावलम्बी उलझाने वाले प्रश्न ही पूछते हैं।[३४]

(ग) वैदिक परम्परा में निर्ग्रन्थ-

वैदिक परम्परा में भी निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग हुआ है। हिन्दू-पुराणों में जैनधर्म की आस्था को 'देव, अर्हन्त और गुरु निर्ग्रन्थ' कहकर पुष्ट किया गया है। मुण्डकोपनिषद् में जैन-मान्यता के अनेक पारिभाषिक शब्द मिलते हैं। 'निर्ग्रन्थ' शब्द भी इसमें व्यवहृत हुआ है, उसका विशेषण केश-लोच (शिरोव्रतं विविधैस्तु चीर्ण) दिया है। 'निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय' नाम से जैन धर्म ई. पू. दूसरी से पांचवी शताब्दी तक भी विख्यात था। बौद्ध-ग्रन्थ मणिमेखला में जैन-दर्शन को दो भागों में विभक्त किया गया है-आजीवक और निर्ग्रन्थ। आजीवक सम्प्रदाय भगवान् महावीर के विरोधी मक्खलि गोशालक का था और निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय भगवान् महावीर स्वामी का।

श्री सौभाग्यमल जैन ने अपनी पुस्तक 'विचारों के नये आयाम' में कहा है कि 'यह निर्विवाद है कि भगवान् पार्श्वनाथ का अनुयायी सम्प्रदाय ही 'निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय- कहा जाता था। भगवान् महावीर और पार्श्वनाथ का संदेश पूर्व में 'निर्ग्रन्थ उपदेश' के नाम से प्रसिद्ध था, किन्तु भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् 'निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय' का नाम 'जैन-धर्म' हो गया।' जब सम्राट सिकंदर मध्य एशिया में आया, तब 'कियारिशि' नगर में उसने बहुसंख्यक निर्ग्रन्थ संतों को देखा, ऐसा उल्लेख प्राप्त होता हैं सिकंदर के पश्चात् ई. सन् की सातवी शताब्दी में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी निर्ग्रन्थ संघ का उल्लेख अपने यात्रा-संस्मरण में दिया है। यूनान के एथेंस नगर में प्राप्त हुई 'अमृतशिला' नामक एक प्रतिमा विख्यात है। जर्मन प्राच्य वास्तुशास्त्र के अन्वेषकों ने इस प्रतिमा को ई.पू. छटी शताब्दी का कहा है। यह निर्ग्रन्थ मुद्रा का मूर्ति-शिल्प हैं। - प्राकृतविद्या (अक्टूबर-दिसम्बर, २००२) के मुख-पृष्ठ पर एक नग्न योगी की कायोत्सर्ग ध्यान मुद्रा में स्थित मूर्ति का चित्र प्रकाशित है।

इतिहास-प्रसिद्ध है कि सिकंदर के अनुरोध पर कल्याण मुनि यूनान गये थे और एथेंस नगर में ही 'सेंट कौलानस' के नाम से आज भी उनकी समाधि विद्यमान है किन्तु इस मूर्तिशिल्प को इनसे भी प्राचीन माना गया है। यूनान में निर्ग्रन्थ परम्परा का व्यापक प्रभाव रहा है।

इस प्रकार निर्ग्रन्थ भगवान महावीर एवं जिन या अर्हत् की तरह जैन तीर्थंकरों की यह संज्ञा है। जैनधर्म की श्रमण-परम्परा में 'निर्ग्रन्थ' शब्द जैन साधुओं के लिए प्राचीनकाल से प्रयुक्त होता आया है। एक तरह से यह जैनधर्म का पारिभाषिक अर्थ पूर्ण शब्द है, जो अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता।

संदर्भ-संकेत

१. मूलाचार गाथा ३०
२. सुत्तपाहुड़ २०, पृ. १२५-१२६
३. सुत्तपाहुड़ १८
४. सुत्तपाहुड़ १९ पृ. १२४
५. भावपाहुड़ ७ पृ. २५१-२५२
६. भाव पाहुड़ ७० पृ. ३६६
७. भावपाहुड़ ७३
८. भावपाहुड़ २३
९. भावपाहुड़ ६७
१०. भावपाहुड़ ५४
११. नियमसार गाथा ७५
१२. दहरसुत्तं, ३/१; संयुत्तनिकाय, प्रथम भाग पृ. ६७.
१३. कुलसुत्तं, ४२/९; वही, पृ. २८५
१४. सत्तजटिलसुत्त, ३/११; पृ. ७६
१५. नाना तित्थिय सावक सुत्तं, २/३० संयुत्तनिकाय, पृ. ६४
१६. सत्तजटिलसुत्तं, ३/१२; वही, पृ. ७६
१७. नाना तित्थिय सावक सुत्तं, २/३०; संयुत्तनिकाय, भाग १ पृ. ६४)
१८. सङ्खधम्मसुत्तं, २४२/८; संयुत्तनिकाय, चौथा भाग पृ. २८१
१९. नानातित्थिय सावक सुत्तं, २/३०, पृ. ६४
२०. सामञ्जफलसुत्त दीघनिकाय, १/१२
२१. कुतूहलशालासुत्त; ४४/९;, संयुत्तनिकाय, चौथा भाग, पृ. ३४५
२२. दहरसुत्तं, ३/१; संयुत्तनिकाय, पृ. ६७
२३. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ. २३, २५, २३६, २७६, ८०, ८१'
२४. निगण्ठनाटपुत्तसुत्तं संयुत्तनिकाय, ४१/८, चौथा भाग पृ. २६५
२५. सत्तजटिलसुत्तं, ३/११; संयुत्तनिकाय, पृ. ७६
२६. दहरसुत्तं ३/१
२७. नाना तित्थिय सावक सुत्तं २, ३; संयुत्तनिकाय, पृ. ६४
२८. कुतूहलशालासुत्तं, ४४/९' संयुत्तनिकाय, चौथा भाग, पृ. ३४१
२९. संयुत्तनिकाय-हिंन्दी' द्वितीय भाग, पृ. ६१३

३०. वही, सङ्खधम्मसुत्तं, ४२/८ पृ., चौथा भाग २८१
३१. वही, कुलसुत्तं, ४२/६ चौथा भाग पृ. २८५
३२. वही, खेत्तूपम्मसुत्तं, ४०/७, चौथा भाग पृ. २७८
३३. वही, असिबन्धकसुत्तं ४०/६, चौथा भाग पृ. २७६
३४. वही, निगण्ठनाटपुत्त सुत्तं, ४१/८, चौथा भाग पृ. २६५

आधार ग्रन्थ

- जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश
- जैन साहित्य का इतिहास-पूर्व पीठिका, पं. कैलाशचन्द जैन
- श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला वाराणसी, वी.नि.सं. २४८६
- वर्धमान कोश।
- श्रमण-संयुत्तनिकाय में जैन संदर्भ, डॉ. विजयकुमार जैन का लेख, अक्टूबर १९८२ वर्ष-३३, अंक १२ श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू युनिवर्सिटी, बनारस
- श्रमण अक्टूबर-दिसम्बर-२००४, निर्ग्रन्थ-संघ और श्रमण परम्परा, साध्वी विजय श्री आर्या का लेख, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी



जैन एवं बौद्धधर्म में सैद्धान्तिक समानता

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में जब भगवान् महावीर एवं भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ तब धार्मिक संक्रान्ति काल का समय था। समाज में व्याप्त कुरीतियों के खिलाफ श्रमण संस्कृति ने जेहाद छेड़ रखा था। प्रारंभ से ही जैन तीर्थंकरों की परम्परा चल रही थी। भगवान् महावीर भी उम्र में बुद्ध से बड़े थे। बौद्ध साहित्य से प्रमाणित होता है कि भगवान् महावीर का परिनिर्वाण बुद्ध के समय हो गया था। बुद्ध ने भी कई चर्याओं को जैन परम्परा के अनुसार स्वीकार किया- यथा वर्षावास का नियम। जैन परम्परा में चातुर्मास का विधान प्रचलित था। जैन साधु चार मास बरसात में विहार नहीं करते थे। भगवान् बुद्ध के समक्ष यह बात उठाई गई कि अन्य तैर्थिक छोटे-छोटे जीवों पर दया करके वर्षावास में नहीं चलते, जिससे उनका समाज में सम्मान बढ़ता है। अच्छा हो कि बौद्ध भिक्षु भी ऐसा ही करें तब भगवान् बुद्ध ने यह नियम बना दिया कि वर्षावास तीन मास का होगा। उसमें भिक्षु एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन नहीं करेंगे।

जैन एवं बौद्धधर्म के सिद्धान्तों में एक आत्मा के सिद्धान्त को छोड़कर बाकी सिद्धान्तों में बहुत समानता है। जैन परम्परा में जहाँ आत्मा को नित्य माना गया है, वहीं बौद्धों को यह स्वीकार नहीं है। वेदादि ग्रन्थ का स्वतः कृतित्त्व नहीं मानना तथा सृष्टिकर्ता ईश्वर को नहीं मानना, इन दोनों बातों में, दोनों परम्पराओं में सैद्धान्तिक समानता है। पुनर्जन्म, पुण्य पाप, निर्वाण आदि की दृष्टि से तथा दोनों दर्शनों की परिभाषिक शब्दावली की दृष्टि से बहुत समानता है। कई अंग्रेज विद्वानों ने दोनों धर्मों को एक मान लिया था।

जैन परम्परा में श्रावकों (गृहस्थों) के लिए पाँच व्रत हैं। बौद्ध परम्परा में गृहस्थों के लिए (जिन्हें उपासक कहा जाता है) पाँच शीलों का पालन करना अनिवार्य है। इन पाँच व्रतों एवं पाँच शीलों में अद्भुत समानता है। मौत्र पाँचवे के नाम में अन्तर है। यथा जैन परम्परा में पाँच व्रत हैं- अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत ब्रह्मचर्याणुव्रत एवं अपरिग्रह। बौद्ध परम्परा में पाँच शील इस प्रकार हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, कामेसु मिथ्याचार विरति एवं सुरा और मादक पदार्थों का त्याग।

बौद्ध परम्परा में उपासक के लिए त्रिशरण गमन है- बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि एवं संघं सरणं गच्छामि। इसी तरह जैन परम्परा में पाँच परमेष्ठी अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु को सम्मान प्राप्त है।

तीर्थंकर एवं बुद्ध ये दोनों शब्द दोनों परम्पराओं में गुणवाची है। जैन तीर्थंकरों एवं बुद्धों को जिन कहा जाता है। जैन परम्परा में २४ तीर्थंकरों की मान्यता है वहीं बौद्ध

परम्परा में भी २५ बुद्धों की मान्यता है। जैन एवं बौद्ध दोनों परम्पराओं में अर्हन्त शब्द सम्माननीय है तथा साधना का चरम लक्ष्य है अर्हत् की प्राप्ति। जैन तीर्थंकरों को पहले अर्हत् धर्म के नाम से ही जाना जाता था। पालि परम्परा में अर्हत् पद की साधना का परमलक्ष्य है। राग, द्वेष, मोह को क्षय करने से यह पद प्राप्त होता है।

निर्वाण एवं मोक्ष की प्राप्ति दोनों धर्मों की साधना का परम लक्ष्य है। जैन परम्परा में जहाँ सिद्ध भी है, वहीं बौद्धों में आत्मा का सिद्धान्त न होने के कारण इस तरह का कोई सिद्धान्त नहीं है। शेष निर्वाण या मोक्ष शब्द की व्युत्पत्ति एवं प्राप्ति के उपायों में अद्भुत समानता है। दिगम्बर जैन परम्परा में जहाँ अभी भी नारी को मुक्ति के लिए एक और जन्म लेना पड़ेगा, वहीं प्रारंभ में बौद्धों ने भी नारीमुक्ति के लिए संकोच दिखाया था। भगवान् बुद्ध के समक्ष जब भिक्षुणी संघ की स्थापना की बात आयी तब प्रारम्भ में भगवान् बुद्ध ने मना कर दिया कि'ठीक नहीं है। जब उनकी माता को ही दीक्षा के लिए प्रस्तुत किया गया तब कहीं जाकर संघ में भिक्षुणियों को स्थान मिला। बुद्ध ने साथ में यह भी कह दिया कि जहाँ संघ हजार वर्ष चलने वाला होगा अब पाँच सौ वर्ष चलेगा। इसके साथ ही भगवान् बुद्ध ने भिक्षुणियों के लिए आठ विशेष गुरुधर्म बना दिये। इन सब के बावजूद हुआ वही, जो भगवान् बुद्ध ने भविष्यवाणी की थी अर्थात् बुद्ध विहारों में अनाचार फैला एवं समाज से बहिष्कार हुआ तथा भारत से बौद्धों का लोप भी हो गया अब पुनः उनकी स्थापना एवं विकास हो रहा है।

जैन परम्परा में सम्यकदर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः अर्थात् सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र को मोक्ष का मार्ग बतलाया गया है, वहीं बौद्ध परम्परा में आर्य अष्टांगिक मार्ग को निर्वाण गामी मार्ग कहा गया है। आर्य अष्टांगिक मार्ग इस प्रकार है-सम्यक दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति एवं सम्यक् समाधि। इन्हें शील, समाधि एवं प्रज्ञा के रूप में भी संक्षिप्त किया जाता है जो रत्नत्रय की तरह ही है।

बौद्ध परम्परा में चार तीर्थ माने जाते हैं। लुम्बिनी-जहाँ भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ। बोधगया-जहाँ ज्ञान प्राप्त हुआ। सारनाथ-जहाँ प्रथम धर्म चक्र प्रवर्तन हुआ तथा कुशीनगर-जहाँ भगवान् बुद्ध का परिनिर्वाण हुआ। जैन परम्परा में तीर्थंकरों के भी पंचकल्याणक मान्य हैं। यथा-गर्भ कल्याणक, जन्म कल्याणक, तप कल्याणक, ज्ञान कल्याणक एवं मोक्ष कल्याणक। इनसे सम्बन्धित स्थानों को तीर्थ माना जाता है। राजगृह, वैशाली, सारनाथ आदि दोनों धर्मों में पूज्य स्थल हैं। ये स्थल भगवान् बुद्ध एवं भगवान् महावीर के विचरण स्थल रहे हैं। आश्चर्य इस बात का माना जाता है कि भगवान् बुद्ध

एवं भगवान् महावीर का समय एवं स्थान एक होते हुए भी दोनों महापुरुष मिले हों ऐसा संदर्भ कोई भी प्राप्त नहीं होता। दोनों के भिक्षुओं के माध्यम से परस्पर वार्तालाप, शास्त्रार्थ एवं आदान-प्रदान के संदर्भ अवश्य मिलते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रमण परम्परा के पोषक होने से दोनों धर्मों में जहाँ कई समानताएं हैं। वहाँ आचारगत विभिन्नताएं भी हैं। यथा जैन परम्परा पूरी तरह से अहिंसा के व्रत पालन करने में लगी है, वहीं पर बुद्ध परम्परा में त्रिकोटि परिशुद्ध मांस भक्षण की बात कही जाती है एवं आज भी उनके अनुयायी मांस भक्षण में संकोच नहीं करते जबकि बौद्ध परंम्परा ने विभिन्न स्थलों में मांस भक्षण की निन्दा भी की गई है। बौद्ध महायान ग्रन्थ लंकावतार सूत्र-मांस भक्षण परिव्रर्त में इतने जोर दार शब्दों में मांसाहार का विरोध किया है कि मांस भक्षी थोड़ा सा भी विवेकी होगा तो मांस खाना छोड़ देगा। दोनों परम्पराएं जन्म से वर्ण व्यवस्था को अस्वीकार करती हैं। गुणों के आधार पर ही मनुष्य ऊँचा-नीचा कहलाने का अधिकारी है। इस प्रकार संक्षेप में बौद्धधर्म एवं जैनधर्म की समानता को समझा जा सकता है।

सन्दर्भ-संकेत

दृष्टव्य-परिशिष्ट

- जैन, बौद्ध एवं गीता का तुलनात्मक अध्ययन - डॉ. सागरमल जैन।
- त्रिपिटक एवं जैन आगम - मुनि नगराज जी।
- युग उद्‌बोधन, वर्ष-७, अंक-६, दिसम्बर २००१ में प्रकाशित।



जैन एवं बौद्धदर्शन के कुछ समान पारिभाषिक शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन

भारतीय संस्कृति के विकास में श्रमण संस्कृति का महत्त्वपूर्ण योगदान है, भाषा एवं साहित्य की दृष्टि से इसे भुलाया नहीं जा सकता। आज श्रमण संस्कृति की दो धाराएं-बौद्ध एवं जैन ही विद्यमान हैं। बौद्ध एवं जैन की समानता के विभिन्न पक्षों पर भी विद्वान् सहमत हैं। बौद्ध एवं जैन दोनों साहित्य में लोकभाषा को महत्त्व दिया गया जिसे आज पालि एवं प्राकृत के नाम से जाना जाता हैं। उद्देश्य की समानता एवं लोकभाषा के प्राथमिकता के कारण दोनों धर्मों में प्रयुक्त अनेक पारिभाषिक शब्दों में साम्य है जिनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

अर्हन्त

प्रारम्भिक बौद्ध परम्परा में प्रव्रज्या का उद्देश्य अर्हन्त अवस्था की प्राप्ति है। साधक की चार अवस्थाओं में अन्तिम अवस्था अर्हत् है, जिसकी प्राप्ति १० संयोजन के क्षय हो जाने से होती है। दस संयोजन इस प्रकार है- सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रत परामर्श, काम, व्यायाद, रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य और अविद्या। अर्हत् सभी मलों से रहित, जन्म-मरण के बन्धन में न पड़ने वाला होता है। इसे श्रेष्ठ आर्य कहा गया है।

जैन परपम्परा में अर्हत् सभी कर्मों का क्षय करने वाला होता है। उनके चार घातिया कर्म क्षय हो जाते हैं। चार घातिया कर्म-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय।

बौद्ध परम्परा एवं जैन परम्परा में अर्हत की धारणा में भेद भी है। बौद्ध संघ में अर्हतों की संख्या बहुत थी। बुद्ध या तीर्थंकर के समान अर्हतों में जन्म से अतिशय एवं प्रातिहार्य नहीं हैं जबकि जैन परम्परा में अर्हन्त का स्थान तीर्थंकर के समान है। पंच परमेष्ठी में सर्वप्रथम अर्हन्त को नमस्कार किया गया है। द्वितीय परमेष्ठी के रूप में सिद्ध की मान्यता है। सिद्ध अवस्था आठ कर्मों के सम्पूर्ण क्षय करने पर प्राप्त होती है। सिद्धों की समानता बौद्धों के निरुपाधिशेष निर्वाण से की जा सकती है।

निर्वाण/मोक्ष

दोनों परम्पराओं में निर्वाण या मोक्ष एक ही अर्थ में प्रयुक्त हैं। बौद्ध परम्परानुसार रागरूप, द्वेषरूप, एवं मोहरूप निर्वाण है। यह दो प्रकार का होता है।

सोपाधिशेष एवं निरुपाधिशेष निर्वाण। जीवित अवस्था में राग, द्वेष एवं मोह का क्षय सोपाधिशेष निर्वाण है तथा शरीर नष्ट होने के बाद निरुपाधिशेष निर्वाण की अवस्था प्राप्त होती है। निर्वाण की अवस्था शून्य एवं शान्त मानी गई है। जैन परमपरा में अष्टकर्म (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र एवं अन्तराय) के क्षय होने पर शुद्ध आत्म स्वरूप प्राप्त होने पर निर्वाण की अवस्था प्राप्त होती है।

जैन परम्परा में निर्वाण अवस्था में आत्मा लोक के अग्रभाग में अवस्थित होकर सिद्धशिला में स्थित हो जाती है, जबकि बौद्धों ने ऐसा कोई स्थल नहीं माना है। यह अन्तर इसलिए प्रतीत होता है कि मूल रूप से बौद्ध आत्मा आदि की सत्ता न मानकर सब कुछ अनित्य मानते हैं जबकि जैन आत्मा को नित्य मानते हैं।

संघ-

जैन परम्परा में चतुर्विध संघ हैं-साधुसंघ, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका। बौद्धों में भी भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक एवं उपासिका - चार भेद होते हैं लेकिन संघ द्विविध ही मान्य है-भिक्षुसंघ एवं भिक्षुणीसंघ। जैन परम्परा में श्रावक उपासक के लिए कहा जाता है। बौद्ध परम्परा में भिक्षु के लिए। जैन परम्परा में साधु एवं साध्वियों के लिए ५ महाव्रत का पालन करना अनिवार्य है। पाँच महाव्रत-प्राणातिपात विरमणव्रत, मृषावाद विरमणव्रत, अदत्तादान विरमण, अब्रह्म से विरमण एवं परिग्रह विरमण। बौद्ध परम्परा में भिक्षु-भिक्षुणी के लिए १० शीलों का पालन करना है। दस शील- १. जीव हिंसा सें विरत रहना, २. चोरी से विरत रहना, ३. ब्रह्मचर्य से विरत रहना, ४. असत्य वचन से विरत रहना, ५. सुरा, मेरय, मद्य से विरत रहना, ६. विकाल में भोजन करने से विरत रहना, ७. नृत्य, गीत, वादन आदि विद्वेषक दृश्यों से विरत रहना, ८. माला, सुगन्धि तथा लेप के सेवन से विरत रहना। ६. ऊँची और ठाट-बाट की शय्या के उपयोग से विरत रहना। १०. सोना चांदी के परिग्रह से विरत रहना। श्रावक/उपासक के लिए तीन अणुव्रत, तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रत का पालन करना आवश्यक है। बौद्ध परम्परा में उपासक के लिए बुद्ध, धर्म एवं संघ की शरण स्वीकार करने के साथ पाँच शीलों का पालन करना अनिवार्य है।

सम्यक्दृष्टि-

जैन परम्परा में तत्त्वों में श्रद्धान करना सम्यक्दृष्टि है। तत्त्व सात बतलाए गए हैं-जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। बौद्ध परम्परा में चार आर्यसत्यों एवं प्रतीत्यसमुत्पाद के ज्ञान को सम्यक्दृष्टि कहा है।

मिथ्यादृष्टि-

बौद्ध परम्परा में मिथ्यादृष्टि के रूप में विभिन्न दृष्टियां बतलाई गई है। संक्षेप में बुद्ध की शिक्षा 'अनित्य-दुःख-अनात्म' के विपरीत भाव मिथ्यादृष्टि है। जैन परम्परा में भी ३०० मिथ्यादृष्टि बतलाई गई हैं। जैन मान्यता के विपरीत भाव को यहाँ भी मिथ्यादृष्टि कहा गया है।

आस्रव-

जैन परम्परा में मनयोग, वचनयोग तथा काययोग को आस्रव कहते हैं, इनकी गणना सात तत्त्वों में होती है। इनकी संख्या ३६ बतलाई गई है। बौद्ध परम्परा में आस्रव तीन हैं। काम आस्रव, भव आस्रव, एवं अविद्या आस्रव।

प्रज्ञा-

बौद्ध-धर्म में विपश्यना ज्ञान को प्रज्ञा कहा जाता है। अनित्य-दुःख अनात्म के रूप में ज्ञान प्रज्ञा है। बाद में बौद्धधर्म में प्रज्ञा का विचार बहुत विकसित हुआ। जैन परम्परा में प्रज्ञा का उपयोग अन्य भारतीय साहित्य की तरह बुद्धि या ज्ञान के लिए हुआ है।

देशना-

देशना उपदेश को कहते हैं। भगवान् बुद्ध की प्रथम देशना के पश्चात् संसार में आश्चर्य प्रकट हुए थे। जैन परम्परा के अनुसार महावीर की देशना के समय कुबेर समवशरण की रचना करते हैं तथा अष्ट प्रातिहार्य उत्पन्न होते हैं।

इसी प्रकार और भी बहुत से पारिभाषिक शब्द दोनों परम्पराओं में आए हैं। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि दोनों में बहुत समानता है साथ ही अन्तर भी।

दृष्टव्य-

- जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग-३६, जुलाई १९८६ में प्रकाशित।
- जैन बौद्ध तत्त्व ज्ञान, ब्र. शीतलप्रसाद जैन।
- Sraman Cullure -Dr. Raka Jain & Dr. V. K. Jain



जैन एवं बौद्ध धर्म में अहिंसा

संसार में सुख समृद्धि के भौतिक उपकरणों में कल्पनातीत वृद्धि हुई है फिर भी संकटों, दुःखों, अभावों, चिन्ताओं की दृष्टि से मनुष्य परेशान है। मानव सदैव दुःख और विविध क्लेशों से मुक्ति पाने का मार्ग खोजता रहा है। भगवान महावीर एवं बुद्ध की शिक्षा में सार्वभौमिक एवं सार्वजनिक करुणा का संस्पर्श है। इस प्रसंग में विशेष उपयोगी 'अहिंसा' का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

प्रायः सभी धर्मों में अहिंसा को सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार किया गया है लेकिन अहिंसावादियों में जैनियों का नाम अग्रणी है। जैन आगमों में अहिंसा को सर्वोच्च धर्म कहा गया है। हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह के त्याग में अहिंसा सर्वप्रथम है, शेष इनकी रक्षा के लिए है।[१] खेत में धान बोने पर उसकी रक्षा के लिए चारों ओर बाड़ रूप हैं।[२] अहिंसा को जल एवं सत्य आदि को उसकी रक्षा के लिए सेतु बतलाया गया है। आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार आत्मा की अशुद्ध परिणति मात्र हिंसा है। असत्य आदि सभी विकार आत्मा परिणति को बिगाड़ने वाले हैं इसलिए वे भी हिंसा है।[३] आचारांग सूत्र में तीन महाव्रत- अहिंसा, सत्य और वहिर्धादान का उल्लेख मिलता है। स्थानांग, उत्तराध्ययन आदि में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का उल्लेख अनेक स्थानों पर है। हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह से विरत होने को व्रत कहते हैं।[४] इन पांच पापों को एक देश से त्याग करने को अणुव्रत कहते हैं और पूरी तरह त्याग करने को महाव्रत कहते हैं।[५] इन व्रतों को स्थिर करने के लिए प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनायें हैं, जिनको ध्यान में रखने से व्रत दृढ़ हो जाते हैं। अहिंसा व्रत की भावनायें इस प्रकार हैं- वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, इर्या समिति, आदाननिक्षेपण समिति और आलोकित पान भोजन। वचन की प्रवृत्ति को अच्छी तरह से रोकना वचनगुप्ति है। मन की प्रवृत्ति का अच्छी रीति से रोकना मनोगुप्ति है। पृथ्वी को देखकर सावधानतापूर्वक चलना ईर्या समिति हैं, सावधानी पूर्वक देखकर वस्तु को उठाना और रखना आदान-निक्षेपण समिति है। दिन में अच्छी तरह देखभाल कर खाना-पीना आलोकित पान भोजन है।[६]

इन व्रतों के विरोधी जो हिंसा आदि है, उनसे विमुख रहने के लिए उपाय एवं भावनायें बतलाई गई हैं। हिंसा आदि पाँच पाप इस लोक और परलोक में

विनाशकारी तथा निन्दनीय हैं। हिंसा आदि पाप दुःख रूप हैं। किसी भी प्राणी को दुःख न हो, गुणवान पुरुषों को देखकर हर्षित होना और अपनी भक्ति प्रकंट करना, दुःखी प्राणियों को देखकर एवं उद्धत लोगों में मध्यम भाव रखना।[७] ये अहिंसा की भावनाएं हैं। बध, बन्ध, छेद, अतिभार आरोपण और अन्नपान निरोध अहिंसा व्रत के अतिचार बतलाये गए हैं।[८]

भगवान बुद्ध ने भी अपने पंचशीलों में अहिंसा को प्रथम सम्मान दिया है। शेष चार हैं- सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सुरा आदि मादक द्रव्यों का त्याग। इनके अतिरिक्त भिक्षुओं के लिए और भी पांच शील बलताए गए हैं-अपराह्न भोजन त्याग, माला धारंण त्याग, संगीत त्याग, सुवर्ण त्याग और अमूल्य शय्या का त्याग। विनयपिटक में भिक्षुओं के नियमों के अन्तर्गत वर्णित है कि यदि भिक्षु मनुष्य को मारे, आत्म हत्या के लिए शस्त्र खोज लायें, मरने की प्रशंसा करे या मरने को प्रेरित करे तो वह पाराजिक दण्ड का अधिकारी होता है। हिंसा युक्त स्थान में कुटी बनवाने में भी संघादिसेस का दोष बतलाया गया है। तृण वृक्ष आदि का काटना, गिराना, जीव सहित पानी को पीना, जीव सहित पानी से तृण या मिट्टी का सिंचन करना तथा किसी भी प्राणी के मारने में पाचित्तिय दोष होता है। गाय या अन्य कोई चर्म धारण करने में भी दुक्कट का दोष बतलाया गया है।[९]

भगवान बुद्ध ने वर्षा के दिनों में तृण एवं एक इन्द्रिय वाले जीवों की पीड़ा को सुनकर वर्षावास का विधान किया था। इस सन्दर्भ में वर्णित है कि भिक्षुओं ने निवेदन किया कि दूसरे तैर्थिक जीवों की दया का ख्याल कर वर्षावास करते हैं जिससे उनकी समाज में प्रतिष्ठा एवं यश फैलता है। बुद्ध ने भी वर्षावास का प्रावधान किया। इसी प्रकार जैन धर्म के समान ही चार कल्याणकारी शिक्षायें भी बौद्ध धर्म में प्राप्त होती है, जिन्हें चार ब्रह्म विहार की संज्ञा दी जाती है। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा। प्रथम मैत्री में दूसरों का हित साधन करना। द्वितीय करुणा में उनके दुःख का अपनयन करना। तृतीय मुदिता में उनकी सम्पन्न अवस्था को देखकर प्रसन्न होनां तथा चतुर्थ उपेक्षा भावना में सबके प्रति पक्षपात रहित या समदर्शी होना है। इन भावनाओं का आविर्भाव क्रमशः होता है। सबसे पहले प्राणी जीवों के हित करने की सोचता है, तदनन्तर दुःख से आविर्भूत जीवों की प्रार्थना सुनकर करुणा भावना द्वारा उनके दुःख का अपनयन करता है, पुनः लोगों की सम्यक् अवस्था देख मुदिता भावना द्वारा प्रसन्न होता है। तत्पश्चात् कर्तव्य के भाव में उपेक्षा भावना द्वारा उदासीन वृत्ति का अवलम्बन करता है।[१०]

बौद्ध धर्म में त्रिकोटि परिशुद्ध मांसाहार की छूट दी गई है जिसके कारण जैन धर्मावलम्बियों की तुलना में उनका वह स्थान नहीं रह जाता, फिर भी करुणा की मूर्ति के रूप में भगवान बुद्ध को स्मरण किया जाता है। अहिंसा के पुजारियों में जैन धर्म से बढ़कर विश्व में कोई धर्म नहीं है। डॉ. सागरमल जैन का विचार है कि जैन परम्परा में भी मन्दिर निर्माण, प्रतिमा-पूजन तीर्थयात्रा आदि के प्रसंग पर होने वाली हिंसा विहित मान ली गई है, लेकिन जैन परम्परा में सदैव ही हिंसा का विरोध किया जाता रहा। जिसकी प्रतिक्रियाओं के रूप में दिगम्बर सम्प्रदाय में तेरापंथ और तारणपन्थ तथा श्वेताम्बर में लोकागच्छ, स्थानकवासी एवं तेरापंथ आदि अवान्तर सम्प्रदायों का जन्म हुआ, जिन्होंने धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा का तीव्र विरोध किया।[११] तत्त्वार्थसूत्र में प्रमादीपन से प्राणों के घात करने को हिंसा कहा गया है। शास्त्रों में वर्णित है कि यदि मनुष्य जीव की हिंसा का भाव नहीं रखता और अहिंसा हो जाती है तो उसे पाप नहीं लगता। कहा गया है कि सूक्ष्म जीवों की रक्षा सम्भव न हो तो स्थूल जीवों की या जिनकी रक्षा करना सम्भव हो, करना चाहिए।[१२]

महात्मा गांधी ने भी स्वीकार किया है कि भगवान् महावीर ने सबसे पहले अहिंसा को बतलाया जो सब सुखों को देने वाली है। गांधी जी ने लिखा है कि मेरी अहिंसा सारे जगत के प्रति प्रेम मांगती है। धर्म का निचोड़ या उसका दूसरा नाम अहिंसा है।[१३] यह भी ध्यातव्य है कि अहिंसा कायरता नहीं है, बल्कि हिंसा पर विजय है। महात्मा गांधी ने कहा था कि अहिंसा के सामने हिंसा निकम्मी हो जाती है ? अगर आज तक ऐसा नहीं हुआ है तो उसका कारण यह है कि हमारी अहिंसा दुर्बलों और भीरुओं की है। जैन आगमों में कहा गया है कि जैसे जगत में मेरु पर्वत से ऊँचा और आकाश से विशाल कुछ नहीं है, वैसे ही अहिंसा के समान कोई धर्म नहीं है। सभी जीव जीना चाहते है, मरना नहीं, इसलिए प्राणि-वध को भयानक जानकर उसका वर्जन करना चाहिए। जैसे तुम्हें दुःख प्रिय नहीं है वैसे ही सब जीवों को दुख प्रिय नहीं है। यही बात भगवान बुद्ध ने कही है कि सभी लोग दण्ड से भय खाते हैं एवं सभी लोग मृत्यु से डरते हैं। इस प्रकार अपने से दूसरे की उपमा करके न किसी को चोटें पहुंचाये, न मारें। जय बैर को पैदा करती है तथा पराजय से दुःख उत्पन्न होता है एवं जिसने जय एवं पराजय दोनों को छोड़ दिया है, ऐसा उपशान्त सुख पूर्वक रहता है। चतुःशतक में जैनधर्म की भांति स्पष्ट कह दिया कि धर्मों का सार अहिंसा है 'धर्मं समासतोऽहिंसा' यही स्वर भारतीय परम्परा का रहा है कि 'अहिंसा परमो धर्मः'।

संदर्भ-संकेत

१. अवसेसा तस्स रक्खद्धा। - पञ्चसंगह द्वार

२. अहिंसा शस्य संरक्षणे वृत्ति कल्पत्वात् सत्यादिव्रतानाम्। - हरिभद्रीय अष्टक १६/५

३. द्रष्टव्य-अहिंसा तत्त्व दर्शन, पृ. ३

४. आचारांग ७/१/४००

५. हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्योविरत्तिर्व्रतम्। - तत्त्वार्थसूत्र ७/१/ पृ. ०५६

६. तत्त्वार्थसूत्र ७/४

७. वही ७/११

८. तत्त्वार्थसूत्र ७/१३

६. पातिमोक्ख - डॉ. भागचन्द्र जैन, आलोक प्रकाशन, नागपुर, १६७५,पृ. ६, १२, ३६, ५६

१०. विशुद्धि मार्ग, भाग १ पृ. ८८ (हिन्दी)

११. जैन-बौद्ध और गीता समाज दर्शन पृ. ७२

१२. तत्वार्थ सूत्र, पृ. १६२ (पं. कैलाशचन्द्र जी जैन द्वारा सम्पादित)

१३. ज्ञानगंगा, पृ. ५१-६१

● अहिंसावाणी, अंक-३६, अंक १-२, जन.-फर. १६८६ में प्रकाशित



जैन एवं बौद्ध-धर्म में कर्म-सिद्धान्त

जैन एवं बौद्ध दोनों परम्पराएं अवैदिक परम्परा के अन्तर्गत परिगणित हैं। प्राचीनकाल से इनको श्रमण धारा में गिना जाता है। भारतीय परम्परा में नास्तिक एवं आस्तिक के आधार पर जैन, बौद्ध एवं चार्वाक को नास्तिक कहा गया है। वस्तुतः नास्तिकता का यह विभाजन वेद की प्रामाणिकता के आधार पर है। कर्मवाद या पुनर्जन्म को आधार माना जाय तो चार्वाक को छोड़कर जैन एवं बौद्ध कर्मवाद के समर्थक हैं। पुनर्जन्म, पुण्य-पाप को मानते हैं। सृष्टिकर्ता ईश्वर को नहीं मानते। जैन एवं बौद्ध परम्परा में मौलिक अन्तर आत्मा और अनात्मा को लेकर है। जैन परम्परा नित्य आत्मा को स्वीकार करती है, वहीं बौद्ध अनात्मवादी हैं वे नित्य आत्मा को स्वीकार नहीं करते।

शुभ और अशुभ के रूप में द्विधा कर्म का वर्गीकरण, कर्म के सामाजिक मूल्य को प्रकट करता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है उसके कर्म सिद्धान्त की प्रतिष्ठा उसी समय हो गयी थी जिस समय उसने जीवन की पुकार की थी, कर्म सिद्धान्त व्यक्ति के आचरण का नियमन करता है। इस आचरणवाद ने अनेक धर्माचार्यों की वाणी का प्रश्रय पाकर अनेक दिशाओं में अभ्युदय प्राप्त किया। आचरण की व्याख्या कर्म के माध्यम से की जा सकती है।

जैन परम्परा में कर्म सिद्धान्त

मानव के लिए कर्म सिद्धांत की उपयोगिता अपरिहार्य है। मनसा, वाचा, कर्मणा वह जो कुछ भी करता है वह सब कर्म है। कुछ सूक्ष्म जड़/पुद्गल स्कन्ध जीव के प्रदेशों में प्रवेश पाते हैं यह बात केवल जैनागम/ जैनदर्शन ही बताता है। जैसे-जैसे जीव कर्म करता हैं वैसे ही स्वभाव को लेकर कर्म उसके साथ बंधते हैं और कुछ काल बाद परिपक्व दशा को प्राप्त होकर उदय में आते हैं। यही उनका फलदान कहा जाता है। इसी सिद्धान्त को जरा बड़े पैमाने पर लागू करने से हम पुनर्जन्म का निष्कर्ष करते हैं।

कोई व्यक्ति अन्धा है कोई लंगड़ा, कोई मूर्ख है तो कोई बुद्धिमान, कोई भिखारी है, तो कोई धनवान, कोई दातार है, तो कोई कंजूस, कोई दुर्बल है, तो कोई शक्तिशाली इत्यादि इन विभिन्न विविधताओं का समन्वय कर्मसिद्धांत के द्वारा होता है। कुन्दकुन्द स्वामी इस विषय का समाधान करते हुए लिखते हैं कि जिस प्रकार पुरुष द्वारा खाया गया भोजन जठराग्नि के निमित्त से मांस, चर्बी, रुधिर आदि रूप परिणमन को प्राप्त होता है। उसी प्रकार यह जीव अपने भावों के द्वारा जिस कर्मपुंज/कार्माण वर्गणाओं को ग्रहण करता है,

उनका इसके तीव्र, मंद, मध्यम कषाय के अनुसार विविध रूप परिणमन होता है। जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। इन्हीं भावों की पुष्टि पूज्यपाद स्वामी ने भी की है। जीव जीवन में प्रतिक्षण कर्म करता है अतः व्यवहारतः अन्योन्याश्रित सम्बन्ध प्रतिभाषित होता है।

जिस प्रकार अग्नि के सहयोग से चावल पकते हैं। ठीक इसी तरह जीव सोते जागते जीवन में प्रतिक्षण कर्माग्नि से राग-द्वेष को पकाता/वृद्धिंगत करता है। इन रागादि भाव अग्नि से दृढ़ कर्मबंधन होता है। यह जीव इष्ट-अनिष्ट संकल्प द्वारा वस्तु में प्रिय-अप्रिय कल्पना करता है, जिससे राग-द्वेष उत्पन्न होते है। 'कर्मचक्र राग-द्वेषवश सतत् चलता रहता है-जैसे फोटोग्राफर चित्र खींचते समय अपने कैमरे को व्यवस्थित ढंग से रखता है और उस समय उस कैमरे के समीप आने वाले पदार्थ की आकृति लेन्स के माध्यम से प्लेट पर अंकित हो जाता है। उसी प्रकार राग-द्वेष रूपी कांच के माध्यम से पुद्गलपुंज जीव में विशेष विकृति उत्पन्न कर देते है। जो पुनः/आगामी रागादि भावों को उत्पन्न करता है, जिससे चक्र चलता है। राग-द्वेष रूपी तैल से लिप्त आत्मा में कर्मरज आकर चिपकती है और आत्मा को इतना मलिन बनाकर पराधीन कर देती है कि अनन्तशक्ति सम्पन्न आत्मा क्रीतदास के समान कर्मों के इशारे पर नाचती है। इन राग-द्वेष कर्म को ही भावकर्म और ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों को द्रव्यकर्म की संज्ञा दी गयी है। नामकर्म से स्थूल परमाणुओं के एकीकरण होने पर नोकर्म/शरीर कर्म होता है। शरीर की उत्पत्ति कर्माधीन है, पूर्वकृत फल के अनुबन्ध से उत्पत्ति होती है। ये कर्म ही नोकर्म है। जिस प्रकार चित्रकार अपनी तूलिका और विविध रंगों से सुन्दर, भीषण आदि चित्रांकन करता है, उसी प्रकार कर्मरूपी चितेरा इस जीव को भले बुरे, दुबले पतले आदि शरीर में शांति देता है। इस जीव की अगणित आकृतियां और विविध प्रकार के शरीरों का निर्माण भाव कर्म की कृति है।

कर्म से सम्बद्ध जैन दर्शन में पाँच तत्त्व है - आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। कर्मवर्गणा के पुद्गल-परमाणु लोक में सर्वत्र व्याप्त है। मनुष्य जब कोई कार्य करता है, तो उसके आस-पास वातावरण में क्षोभ हो जाता है, जिसके कारण उपस्थित कर्मशक्ति युक्त पुद्गल-परमाणु आत्मा की ओर आकर्षित होते हैं। कर्मों का आत्मा की ओर आकर्षित होना आश्रव, साथ रहना बंध (बन्ध में सत्कर्मों/सद्भावों द्वारा व्यावहारिक जीवन में कर्मों की उपयोगिता निहित है) रोकना संवर, एकदेश छूटना निर्जरा और सर्वदेश छूटना मोक्ष है। तत्त्व को जाने समझे बिना कर्म के रहस्य महत्त्व को समझ पाना नितान्त असम्भव है।

जैनागम में भावकर्म और द्रव्यकर्म की विशेष प्ररूपणा है। घात-अघात के आधार पर द्रव्यकर्म द्विधा विभक्त है। जो कर्म आत्मा के वास्तविक स्वरूप को घात करें वे घातिया कर्म है-ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय। जिससे जीव की विविध योनियां, अवस्थायें निर्धारित हों वे अघातिया कर्म हैं-नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय।

ज्ञानावरणीय कर्म-जिसके उदय होने पर आत्मा की ज्ञान-ज्योति ढ़क जाती है और कभी न्यून, कभी अधिक होती है। इन कर्मों की तारतम्यता के अनुसार कोई जीव अत्यन्त मूर्ख होता है तो कोई चमत्कार पूर्ण विद्या का अधिपति बनता है। जगत दर्शनावरणीय कर्म-में बौद्धिक विभिन्नता का कारण यह ज्ञानावरण कर्म है।

दर्शनावरणीय कर्म- आत्मा की दर्शन शक्ति पर आवरण करने वाला दर्शनावरण कर्म है।

मोहनीयकर्म-मोहकर्म कर्मों का राजा मदिरा पायी, ज्ञानवान होते हुए भी उन्मत्त बन उत्पथगामी होता है, इसी प्रकार मोहनीय कर्म रूप मद्य को ग्रहण करने के कारण जीव आत्मा के वास्तविक स्वरूप को समझ नहीं पाता। मोह के फन्दे में फंसा अभागा जीव संसार में भटकता रहता है।

अन्तराय कर्म-जीव बहुत सोचता, मनसूबे बांधता, अनुकूल साधन भी हैं फिर भी वह मनोभावना को पूर्ण नहीं कर पाता क्योंकि अन्तराय नाम का कर्म-दान, लाभादि में विघ्न उपस्थित कर देता। बने खेल को बिगाड़ना, रंग में भंग करना इसका स्वभाव है। वैभव और विभूति के मध्य में रहते हुए भी यदि भोगान्तराय का उदय हो जाए तो पानी बिच मीन पियासी वाली स्थिति उपस्थित हो जाती है।

वेदनीय कर्म-जीव को इन्द्रियों द्वारा सुख-दुःखानुभूति वेदनीय कर्म द्वारा होता है।

आयु-घड़ी में मर्यादितकाल के लिए चाबी भरी रहती है। इसी भांति आयु नाम के कर्म द्वारा इस जीव की मनुष्य आदि योनियों में नियत काल पर्यन्त अवस्थिति होती है। काल-मर्यादा पूर्ण होने पर आयु-कर्म-वशात् जीव जन्म-मरण का खेल खेलता है।

नाम-एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त चौरासी लाख योनियों में जो जीवों की अनन्त आकृतियां है, उसका निर्माता यह नाम कर्म ही है।

गोत्र- जिस प्रकार कुम्भकार मृतिकादि को छोटे-बड़े घट आदि के रूप में परिणत करता है। उसी प्रकार छोटे-बड़े भेदों से विमुक्त इस जीव को गोत्र कर्म उच्च-नीच कुल धारण कराता है।

आठ कर्मों की १४८ कर्म प्रकृतियां जैनागम में मान्य है। नोकर्म का भी उल्लेख हुआ है। उपर्युक्त कर्म-परमाणुओं के भेद-प्रभेदों के सम्यक्ज्ञानोपरान्त यह सहज ही कहा जा सकता है, कि घाती-अघाती कर्म आत्मा के स्वभाव को आच्छादित कर जीव के अनन्तज्ञान-दर्शन सुख को क्षीण कर देते। ये कर्म जीव पर भिन्न-भिन्न प्रकार से अपना प्रभाव डालते हैं, जिसके कारण जीवन सुख-दुःखात्मक होता है।

लेश्या-जैनाचार्यों ने कर्माश्लेष के कारणभूत शुभाशुभ परिणामों को ही लेश्या कहा है। क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायों से अनुरंजित मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति भावकर्म का परिणाम है। मनोभावों को समझाने के लिए जैनागम में फल, वृक्ष और छः पथिक का रूपक आता है। फलप्राप्त्यर्थ उनके विविध विचार, वाणी और कर्म ही लेश्या के छः रूपों को उपस्थित करते हैं।

कृष्णलेश्या-कृष्णलेश्या वाले जीव के कर्म निकृष्ट होते हैं। विचार कठोर, क्षुद्र, क्रूर, विवेक-विचार रहित होते है।

नीललेश्या-इस कोटि में आने वाले जीव के स्वार्थ, ईर्ष्या, कदाग्रह, प्रमाद, रसलोलुपता, बिना बिचारे काम करने की प्रवृत्ति होती है। कृष्णलेश्या की अपेक्षा इन जीवों का जीवन कुछ प्रशस्त होता है।

कपोतलेश्या-इस कोटि के जीवों की वाणी और आचरण में वक्रता एवं दुर्गुणों को प्रच्छन्न कर सद्गुणों को प्रकट करते हैं। इनके कर्म कुछ अधिक विशुद्ध होते हैं।

तेजोलेश्या-इस लेश्या वाला जीव पवित्र, नम्र, दयालु, विनीत, उदारमना होता है।

पद्मलेश्या-इस जीव की मनोवृत्ति धर्मध्यान और शुक्लध्यान में रहती है। इस कोटि के जीव संयमी, जितेन्द्रिय, सौम्य, मितभाषी होते हैं।

शुक्ललेश्या- इनका जीवन समदर्शी, शान्त, अशुभ प्रवृत्तियों से दूर तथा वीतरागमय होता है।

इस प्रकार लेश्याओं के ज्ञात-विज्ञात को भली-भांति जान-समझ लेने पर जीव अपने विचारों-कर्मों को पवित्र करता हुआ अर्थात् अशुभ से शुभ और शुभ से प्रशस्त शुभ की ओर उन्मुख होता हुआ अपना आध्यात्मिक विकास कर सकता है।

कर्मबन्ध- जैन दर्शन की मान्यता है कि प्रत्येक प्राणी अपने ही कर्मों से कष्ट पाता है। आत्मा स्वयं ही अपने कर्मों की उदीर्णा करता है। यह निश्चित है कि व्यक्ति जैसा कर्म करता है उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है। जैनदर्शन के अनुसार कर्मफल-प्रदाता

कोई अन्य व्यक्ति ईश्वर नहीं, अपितु जीव जीवन में स्वकर्मानुसार स्वयंकर्ता और उसका भोक्ता है। जिस समय जीव जैसे भाव करता है वह उस समय वैसे ही शुभाशुभ कर्मों का बंध करता है। कोई भी उसका दुःख बटा नहीं सकता, वह अकेला दुःखानुभूति करता है क्योंकि कर्मकर्ता का अनुगमन करता है। इन कर्मों का स्वभाव परदा, द्वारपाल, तलवार, मद्य, चित्रकार, कुम्भकार तथा भण्डारों के स्वभाव की तरह है। एक ही प्रकार के कर्म करते समय जीव के भाव भिन्न प्रकार के होते है। जैन दर्शन में कर्मबन्ध को चार भागों में विभक्त किया गया। इन्हीं के द्वारा जीवन में कर्मों की उपयोगिता सुदृढ़ होती है-

१. प्रकृति बंध- जो बन्ध कर्मों की प्रकृति/स्वभाव को स्थिर करता है।

२. स्थिति बन्ध- यह बंध कर्म-बंध की अवधि/काल निश्चित करता है।

३. अनुभाग बन्ध- कर्म-फल की तीव्र अथवा मंद शक्ति की निश्चितता "अनुभाग बन्ध" कहलाती है।

४. प्रदेश बन्ध-कर्म बन्ध के समय आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध जितनी संख्या या शक्ति के साथ होता है 'प्रदेशबंध' कहलाता है।

भगवान महावीर के अनुसार कर्म फल से बचना कदापि सम्भव नहीं। वह स्वयं रोपा गया वृक्ष है जिसका फल इच्छा-अनिच्छा से चखना ही पड़ता है-

कर्मणः फलमासाद्य स्वयमुपतरोरिव।

जीवन पूर्ववर्ती जीवन के कर्मों का ही फल है। वर्तमान जीवन के कारण ही भविष्य जीवन की उत्पत्ति होती है। प्राणियों के सुख-दुःख, मानापमान, हर्ष-शोक का कारण पूर्व कर्म ही है-कारणं सुखदुःखेषु प्राणिनां हि पुराकृतम्-इससे कर्मों की उपयोगिता स्वयं सिद्ध होती है क्योंकि कर्म ही जीवन की अवधारणा करते हैं। सिद्धान्त जीवन और जगत की संगति बैठाता है।

ध्यान-ध्यान चार है-आर्तध्यान और रौद्रध्यान ही संसारदशा/दुःख है। इस दुख से दूर भागने के लिए धर्मध्यान की ओर बढ़ना होगा। दुःख से दूर होने के लिए धर्मध्यान द्वारा ही वर्तमान जीवन/भौतिक जीवन में कर्मसिद्धान्त का महनीय ज्ञान होगा।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चार पुरुषार्थों में जीवन की नींव/जड़ धर्म ही है। आत्मा अनादिकाल से कर्मों से लिप्त है। आत्मिक गुणों के विकास के लिए धर्मध्यान अपेक्षित है। आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय के लिए चिन्तवन करना ही धर्मध्यान है, जिससे शुभकर्मोदय होता है।

१. आज्ञाविचय-आगम की प्रमाणता/सर्वज्ञ कथित अर्थ/आज्ञा का विचार करना।

२. अपायविचय-संसारी जीवों के दुःख तथा उससे छूटने के उपाय का चिन्तवन करना।

३. विपाकविचय-कर्म के फल का विचार करना।

४. संस्थानविचय-लोक के आकार का विचार करना।

इन चारों धर्मध्यान का दैनिक जीवन में चिन्तवन करने से दुखों से दूर शुभ-कर्मों/सुख का उदय होगा। जीना सार्थक होगा। अतः जीवन में कर्मसिद्धान्त की उपादेयता धर्मध्यान द्वारा ही सम्भाव्य है और जीवन की सार्थकता कर्मों से छुटकारा/मुक्तावस्था में है, जिसमें धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान कारणभूत है।

वास्तव में जीव का शुभाशुभकर्म के सिवाय कोई अन्य हित या अहित नहीं कर सकता। मिथ्यात्व कर्म के अधीन होकर धर्म मार्ग का त्याग करने वाला देवता भी मरकर एकेन्द्रिय वृक्ष होता है। धर्माचरण रहित चक्रवर्ती भी सम्पत्ति पाकर नरक में जाता है, इसलिए धर्माचरण करना चाहिए और पाप-प्रवृत्तियों से बचना चाहिए।

जैन सिद्धान्त में कर्मों की १० मुख्य अवस्थाएं या क्रियाएं हैं। जिन्हें 'करण' कहते हैं- उनके नाम-बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, सत्ता, उदय, उदीरणा, संक्रमण, उपशम, निधत्ति, निकांचन।

जैन दर्शन का कहना है कि कर्म अपना फल स्वयं देता है, उसके लिए किसी न्यायाधीश की आवश्यकता नहीं है। जैसे-शराब पीने से नशा होता है और दूध पीने से पुष्टि होती है। शराब या दूध पीने के बाद उसका फल देने के लिए किसी दूसरे शक्तिमान नियामक की आवश्यकता नहीं होती। उसी तरह जीव की प्रत्येक कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्ति के साथ जो कर्म-परमाणु जीवात्मा की ओर आकृष्ट होते हैं और राग-द्वेष का निमित्त पाकर उस जीव से बंध जाते है। उन कर्म-परमाणुओं में भी शराब और दूध की तरह अच्छा और बुरा प्रभाव डालने की शक्ति रहती है, जो चैतन्य के सम्बन्ध से व्यक्त होकर जीव पर अपना प्रभाव डालती है और उसके प्रभाव से मुग्ध हुआ जीव ऐसे काम करता है, जो सुखंदायक या दुःखदायक होते हैं। यदि कर्म करते समय जीव के भाव अच्छे होते हैं, बंधने वाले कर्म-परमाणुओं पर अच्छा प्रभाव पड़ता है और बाद में उनका फल भी अच्छा ही होता है तथा यदि बुरे भाव होते हैं तो बुरा असर पड़ता है और कालान्तर में उसका फल भी बुरा होता है।

जैन धर्म अकर्तृत्ववाद को मानता है क्योंकि उसके अनुसार मानव जीवन का अन्तिम ध्येय मुक्ति प्रत्येक जीव को स्वयं ही प्राप्त करना होता है। अतः जैन परम्परा मानती है कि कोई ईश्वर या देवी देवता मानव को मुक्ति नहीं देता और न ही इस जगत को किसी ने उत्पन्न किया है। इस प्रकार जैन धर्म में परमेश्वर परम पद का बोधक है। वह एक आदर्श

मात्र है, वह सृष्टि का निर्माता अथवा सृष्टि नियंता नहीं है। मोक्ष पाने पर संसारी जीव ही परमेश्वर के परम पद को पा लेता है। ऐसी दृढ़ मान्यता जैनधर्म की है, जो मानव को स्वावलम्बी और सम्यक् दृष्टा बनाती है। जीव की आत्मोन्नति में जो सीढ़ी है वह 'चौदह गुणस्थान' कहलाती है। कोई भी प्राणी आत्मोन्नति के इस पावन महल पर चढ़ने के लिए स्वाधीन है।

जीव स्वयं अपने कर्मों का कर्ता और भोक्ता है। वह स्वाधीन है, किसी के अधीन नहीं है। आत्म-स्वातंत्र्य उसका स्वाभाविक गुण है, किन्तु जीव के गुणों से अजीव के गुण भिन्न और विरोधी हैं, यही कारण है कि जीव का सम्बन्ध अनादिकाल से अजीव के साथ होने के परिणामस्वरूप जीव के गुणों का पूर्ण विकास नहीं होता हैं। इस अनादि सम्बन्ध के कारण ही जीव को संसार की गतियों में भ्रमण करना पड़ता और अज्ञान दुख-क्लेश आदि दोषों का भाजन बनना पड़ता है। वह जैसा बीज बोता है, वैसा ही फल पाता है। जड़ के संयोग से वह शरीर के मोह में फंसता है और इच्छाओं का शिकार होता है।

बौद्ध धर्म-दर्शन में कर्मवाद

बौद्ध परम्परा को समझने के लिए आवश्यक है कि उनके मूल सिद्धान्त को समझा जाय कि प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन में अनित्य-दुःख-अनात्मवाद का प्रतिपादन किया गया है तथा शाश्वतवाद एवं उच्छेदवाद के त्यागपूर्वक मध्यम मार्ग के रूप में प्रतीत्यसमुत्पाद का प्रतिपादन किया जाता है। प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त यह प्रतिपादित करता है कि अस्मिन् सति इदं भवति, अस्मिन् असति इदं न भवति अर्थात् अविद्या आदि प्रत्यय से दूसरे प्रत्यय उत्पन्न होते हैं तथा अविद्या आदि प्रत्यय के रोकने से दूसरे प्रत्यय रुक जाते हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद को द्वादशनयचक्र भी कहते हैं। यह संसार इसी तरह परिभ्रमित होता रहता है। अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामरूप, नामरूप से षडायतन, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति एवं जाति से जरामरण होता है।

प्रतीत्यसमुत्पाद के दो पक्ष हैं- परमार्थ तथा व्यावहारिक। प्रथम पक्ष में पुरुषार्थ को सत् एवं असत् से परे बतलाया गया है। द्वितीय पक्ष में-संसार कार्य-कारण भाव के नियम से ग्रस्त कहा गया है। संसार को सत् या असत् मान लेना दुःख का मूल हेतु है। इसी को अविद्या कहते हैं। इस अविद्या से सन्तुष्ट चित्त के लिए दुःखरूप संसारचक्र कर्मतृष्णा आदि की सहायता से निरन्तर चलता ही रहता है।

प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त अविद्या-संस्कार-विज्ञान-वेदना आदि द्वादशसमुदय एवं दुःखनिरोध का निरूपण करते हैं। इन कारणों का निरूपण कहीं संक्षिप्त, कहीं विस्तृत

हैं कहीं एक से बारह, कहीं बारह से एक, कहीं तीन से बारह निदानों का वर्णन किया गया है। यह सभी संकलन संयुत्तनिकाय के निदानसुत्त में मिलता है। यह प्रतीत्यसमुत्पाद के विकास का द्वितीय चरण समझा जाता है।

स्थविरवाद में राग, द्वेष तथा मोह ये तीन कारण चित्त की अवस्थाओं को विकृत करते हैं, तथा चौबीस ऐसे प्रत्यय हैं, जो धर्म की उत्पत्ति अथवा निवृत्ति में प्रयोजक होते हैं। हेतु, आरम्भण, अधिपति, अनन्तर, समनन्तर, सहजात इत्यादि चौबीस प्रत्यय कहे जाते हैं। सर्वास्तिवाद में-आलम्बन, समनन्तर, अधिपति, सहकारी-ये चार प्रत्यय तथा कारण, सहभू, सम्प्रयुक्त, संभाग, विपाक और सर्वत्रग- ये छः हेतु तथा निष्यन्द, पुरुषाकार आदि चार फल बताये गये है।

यद्यपि बौद्ध धर्म में दुःख का मूल हेतु कर्म माना जाता है तथापि वात, पित्त, श्लेष्म, सन्निपात, ऋतु आदि अन्य हेतुओं का भी संकेत मिलता है। इस प्रसंग में भी प्रतीत्यसमुत्पाद का विशिष्ट सम्बन्ध है। भवचक्र हेतु'प्रत्यय के पूर्वोक्त द्वादश निदानों पर आश्रित है। इसका प्रधान कारण अविद्या है।

अनित्य, अनात्म, अशुचि तथा दुःखरूप वस्तुओं में नित्य, सात्त्विक, शुचि तथा सुखरूप बुद्धि करना अविद्या है। इससे रागादिक संस्कार उत्पन्न होते हैं। इन संस्कारों से वस्तु में इष्टानिष्ट की प्रतिविज्ञप्ति होती है। इस प्रतिविज्ञप्ति (विज्ञान) से चार अरूपी स्कन्ध उत्पन्न होते हैं तथा चार महाभूत पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु भी उत्पन्न होते हैं। विज्ञान से ही नाम और रूप को नामरूप संज्ञाएँ मिलती हैं। इन नामरूप से ही चक्षुरादि पांच इन्द्रियां तथा मन-ये षडायतन होते हैं। विषय, इन्द्रिय तथा विज्ञप्ति के सन्निपात को स्पर्श कहते हैं। छह आयतन द्वारों का विषयाभिमुख होकर प्रथम ज्ञान तन्तुओं का जाग्रत करना स्पर्श है। स्पर्श के अनुसार अनुभव होता है। अनुभव के पश्चात् उसमें होने वाली आसक्ति तृष्णा कहलाती है। तृष्णातुर व्यक्ति तृष्णा की वृद्धि से विषय का उपादान करता है, जिससे परलोक को उत्पन्न करने वाला कर्म होता है। यह कर्म मन, वचन एवं काय इन तीनों से उत्पन्न होता हैं, इसके द्वारा परलोक में नये शरीर आदि का उत्पन्न होना जाति है। शरीरस्कन्ध का परिपक्व होना जरा है तथा उसका नष्ट होना मरण कहलाता है इसलिए जरा तथा मरण को जातिप्रत्यय कहा जाता है, इस प्रकार यह द्वादशांग वाला चक्र परस्पर हेतुक है। इसे प्रतीत्यसमुत्पाद कहा जाता है। एक को हेतु बनाकर अन्य का समुत्पाद अर्थात् उत्पन्न होना। इस कारण यह भवचक्र चलता रहता है। इन द्वादशनिदानों में प्रथम दो निदान अतीत भव से, तीन से दश तक के निदान वर्तमान भव से, शेष अन्तिम दो निदान अनागतभव से सम्बद्ध हैं, इस प्रकार से सभी प्रत्यय परस्पराश्रित हैं। योगाचारवादियों ने

बारह निदानों का सम्बन्ध केवल दो जन्मों के साथ माना है। उन्होंने निदानों के चार भेद दर्शाये हैं।

सर्वास्तिवाद के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद के चार भेद माने गये हैं। क्षणिक, प्राकर्षिक (अनेक जान्मिक), साबन्धिक (हेतुफलसम्बन्धयुक्त) और आवस्थिक। विज्ञानवाद के अनुसार इसे आलयविज्ञान का माध्यम मानते हैं। यहाँ आलयविज्ञान सांक्लेशित बीजों का संग्रहस्थान, कर्मस्वभाव कहा गया है। यहाँ प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ प्रगतिशील विश्व माना गया है।

प्रतीत्यसमुत्पाद की बारह कड़ियों को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। १. अतीत, २. वर्तमान और ३. अनागत। इनका सम्बन्ध तीन जन्मों से भी माना जा सकता है या एक ही जन्म या क्षण की तीन क्रमिक अवस्थाओं से भी। बौद्धदर्शन के अनुसार चित्त की सतत् प्रवाहशील धारा के ये तीन लगातार आने वाले क्षण हैं। प्रत्येक क्षण में चित्त का उत्पाद, स्थिति और भंग होता रहता है। इस दृष्टि से प्रत्येक क्षण में जन्म और मरण लगातार होते रहते हैं, इसलिए परमार्थतः इस जन्म और दूसरे जन्म में कोई अन्तर नहीं है। अतः तीन कालों में जन्म के सम्बन्ध को प्रतीत्यसमुत्पाद के सहारे जाना जा सकता है। अविद्या एवं संस्कार दोनों हमारे पूर्व जन्म की वे रचनात्मक कर्मशक्तियां (कम्मभव) हैं, जो हमारे वर्तमान जन्म (उत्पत्तिभव) को निश्चित करती हैं। वर्तमान जीवन के विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श और वेदना उसी के फलस्वरूप हैं। हमारे वर्तमान जीवन की कड़ियां जो तृष्णा, भव और उपादान के रूप में उत्पन्न होती है, स्वयं कर्मभव बन जाती हैं, जिनका विपाक भविष्य के पुनर्जन्म के रूप में होता है तथा जिसके कारण जरा, मरण और दुःख की सन्तति उत्पन्न हो जाती है, इस प्रकार यह भवचक्र निरन्तर गतिमान रहता है।

पंच उपादान स्कन्ध से भिन्न पुद्गल (आत्मा) नहीं है। प्रज्ञप्त स्कन्धों की अपेक्षा से यह पुद्गल है, इस प्रकार प्रज्ञप्तिमात्रतः पुद्गल सत् है, न कि स्कन्धों के किसी भी अंश में स्वतन्त्र पुद्गल सम्भव है। पुद्गलप्रज्ञप्ति के आधारभूत प्रत्येक स्कन्धों में तथा समूह में पुद्गलप्रज्ञप्ति युक्त नहीं है। सापेक्ष एवं प्रज्ञप्त आधार स्कन्ध आदि तत्-प्रज्ञाप्य पुद्गल के धर्मी नहीं हो सकते इसलिए पुद्गल हेतुप्रत्यय तथा स्कन्धों की अपेक्षा से प्रतीत्यसमुत्पन्न मात्र है।

कर्म-क्लेशों के वश से परिवर्तन के कारण दूषित चित्त के उत्पाद के आधार पर क्षणिक स्कन्ध आदि दुःखता तथा संसार भी कहे जाते हैं। कर्म-क्लेशों के वश से जब तक यहाँ जरा-मरण की स्थिति रहती है, तब तक स्कन्धों की सजातीय परिवर्तन की कुछेक स्थूल अवस्थाओं में जरा-मरण का व्यवहार होता रहता है। इस प्रकार के क्षणिकस्कन्धों

की सन्तान से सम्बद्ध पुद्गल में पुद्गल के संसरण का व्यवहार होता है किन्तु पुद्गल सदा एक ही स्थिति में बना रहे, ऐसा सम्भव नहीं है। सामान्यतः विज्ञान तथा पुद्गल के अपने हेतु-प्रत्ययों तथा प्रज्ञप्त्याधार के स्थान परिवर्तन का अवसर भी सम्भव है, इसलिए भद्र का अभद्र में तथा अभद्र का भद्र में स्थानान्तरण भी प्रतीत्यसमुत्पाद में युक्त हैं। अविद्या तथा सास्रव क्लेशों के क्रमिक क्षय से धर्म का वास्तविक लक्षण जाना जा सकता है। बहुजन के हित के लिए तथा बहुजन के सुख के लिए बोधिसत्त्व पारमिताओं का सम्पादन करता है। प्रज्ञा एवं उपाय में क्रमिक विकास से समस्त विपत्तियों से मुक्त विज्ञान एवं मुक्त पुद्गल का अवसर निश्चय ही सम्भव हैं।

विज्ञानवादी मतानुसार सूक्ष्म प्रतीत्यसमुत्पाद

विज्ञानवाद या विज्ञप्तिमात्रतावाद के अनुसार घट, पटादि बाह्य पदार्थों और पुद्गलादि आन्तरिक पदार्थों की बाह्यार्थता नहीं होती है अपितु वे विज्ञान के परिणाम हैं।

विज्ञप्तिमात्रतावाद के दो प्रकार हैं। उनमें से आगमानुयायी विज्ञानवाद के मत में विज्ञान तीन प्रकार का होता है। यथा- आलयविज्ञान, क्लिष्ट मनोविज्ञान तथा प्रवृत्तिविज्ञान। इनमें से आलयविज्ञान मूल विज्ञान है तथा अन्य विज्ञान उसमें आधारित हैं, जैसे समुद्र में तरंगे होती है।

विज्ञान आलयविज्ञान पर वासनाएं प्रक्षिप्त करते हैं। विविध प्रकार की वासनाएं आलयविज्ञान पर बिना व्यर्थ हुए निरन्तर अवस्थित ही नहीं, अपितु परिपुष्ट भी होती जाती है, जिनसे बाह्य भाजन तथा आन्तरिक सत्त्व आदि वस्तुओं के रूप में प्रतिभासित होते हैं।

आलयविज्ञान और वासना क्रमशः आधार तथा आधेय ही नहीं हैं, अपितु परस्पर हेतु तथा फल या कारण-कार्य भी होते हैं, क्योंकि आलयविज्ञान वासना को आश्रय-परिवर्तन में सहायता देती हैं इस प्रकार एक दूसरे के सहायक होते हैं तथा संसार की प्रवृत्ति होती रहती है। संक्षिप्त में हम यह कह सकते हैं कि आलयविज्ञान में स्थित ग्राह्य-ग्राहक वासना के कारण संसार की प्रवृत्ति होती है। अतः आचार्य बसुबन्धु ने कहा है –

सर्व बीजं हि विज्ञानं परिणामस्तथा तथा।
यात्यन्योऽन्यवशाद् येन विकल्पः स स जायते।।
कर्मणो वासना ग्राहद्वयवासनया सह।
क्षीणे पूर्वविपाकेऽन्यद् विपाकं जनयन्ति तत्।।

– विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, त्रिंशिका १८, १९

इस प्रकार मूलविज्ञान आलय में वासनाएं आवास करती हैं। इन दोनों से समस्त वस्तुएं प्रतिभासित होती हैं। इस विशिष्ट कार्य-कारण सम्बन्ध को आगमानुसारी विज्ञानवादी सूक्ष्म सांक्लेशिक प्रतीत्यसमुत्पाद मानते हैं।

आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते। विज्ञानपरिणामेऽसौ। - त्रिंशिका-१

इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य स्थिरमति ने कहा है :-

एवं च सर्वविज्ञेयं परिकल्पितस्वभावत्वाद् वस्तुतो न विद्यते। विज्ञानं पुनः प्रतीत्यसमुत्पन्नत्वाद् द्रव्यतोऽस्तीत्युपेयम्। प्रतीत्यसमुत्पन्नत्वं पुनर्विज्ञानस्य 'परिणाम'-शब्देन ज्ञापितम्।

न्यायानुसारी विज्ञानवाद के मत में आलयविज्ञान तथा क्लिष्ट मनोविज्ञान नहीं होते, अपितु षड्विज्ञान का ही अस्तित्त्व होता है। वासनाएं मनोविज्ञान पर ही अवस्थित रहती हैं। क्लिष्ट मनोविज्ञान के नहीं होने पर भी मनोविज्ञान होता है, जिसे षट् मनोविज्ञान के नाम से जानते हैं। मनोविज्ञान पर विविध वासनाओं के कारण समस्त वस्तु प्रतिभासित होती है। वास्तव में समस्त वस्तुएं विज्ञान के गर्भ में ही उदय एवं अस्त होती हैं। विज्ञान-वासना एवं तत्स्वरूप वस्तुओं को विशिष्ट प्रक्रिया को सूक्ष्म प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं।

विज्ञान के अनुसार सभी पदार्थों में ऊर्जा निहित है। खम्भे तथा घट में यह शक्ति है, तभी तो खम्भों द्वारा छत उठा कर रखा जाता है और घट जल को सुरक्षित रखता है। यदि घटादि से शक्ति निकाल दी जाए तो वे निष्क्रिय हो जाएंगे। शक्ति दो प्रकार की होती है, यथा- सम्भावित ऊर्जा तथा गतिमान ऊर्जा। प्रथम अप्रकट स्वरूप की शक्ति होती है, जिसका स्वरूप प्रकट होने में अन्य कारणों की अपेक्षा रहती है। दूसरी प्रकट स्वरूप शक्ति होती है।

बौद्धों के मत में आलयविज्ञान या मनोविज्ञान में स्थित वासनाएं अर्थक्रिया समर्थ होती हैं, परन्तु उनकी समर्थता गतिशील तब होती है, जब वे (वासनाएं) रूपादि वस्तुओं के रूप में प्रतिभासित होती हैं, अतः प्रतीत्यसमुत्पाद की धारणा विज्ञान से सहमत है। विद्युतीकरण आदि से पदार्थों की रचना तथा सौरमण्डल को परस्पर अपेक्षता आदि, ऐसे अनेकों तथ्य हैं जिनमें प्रतीत्यसमुत्पाद की धारणा निहित है।

दृष्टियों के प्रहाण के आधार पर नागार्जुन के दर्शन में जीव और जगत् की जो व्याख्या की गयी है, कर्म और कर्मफल तथा बन्ध एवं निर्वाण की जो व्याख्या की गयी है, विज्ञानवादी उसके घोर आलोचक थे। माध्यमिक और विज्ञानवादी दोनों ही महायानी और पारमितायानी थे। दोनों को जीव और जगत् के

सम्बन्ध में नैरात्म्य या निःस्वभावता का दर्शन मान्य था। दोनों का ही लक्ष्य सर्व का समग्र उद्धार था। सर्व की प्रस्थापना के लिए ही नागार्जुन ने अपने विश्लेषण द्वारा अस्तित्त्व की भी सीमाओं को तोड़ा, किन्तु उसके विपरीत अनस्तित्त्व की स्थापना नहीं की। विज्ञानवादियों का कहना है कि नागार्जुन की निःस्वभावता से सर्व की व्याख्या तभी होगी, जब विज्ञान का माध्यम स्वीकार किया जायेगा, किन्तु वह विज्ञान कभी अलीक नहीं होगा। निःस्वभावता की भूमि पर विज्ञान की सस्वभावता अथवा विज्ञान की भूमि पर सस्वभावता और निःस्वभावता का अविरोध स्थापित करना, विज्ञानवादी दर्शन का मुख्य बिन्दु है। विज्ञान से विज्ञानवाद का भेद भी ध्यान में रखना होगा। उपनिषद, सांख्य, वैशेषिक, वैभाषिक और सौत्रान्तिक आदि सभी बौद्ध-बौद्धेतर दर्शनों में विज्ञान की विपुल चर्चा की गयी है किन्तु वह विज्ञानवाद नहीं है। निःस्वभावता की भूमि पर चित्त या ज्ञान के माध्यम से जीवन और जगत की जो दार्शनिक व्याख्या की जाती है, वह विज्ञानवाद है, जबकि विज्ञान केवल अस्तित्त्व या स्वभाव की व्याख्या में चरितार्थ होता है। इससे दर्शन के क्षेत्र में यह तथ्य भी प्रकट हुआ कि दृष्टियों का बन्धन और उसका प्रमाण, निषेध और निर्माण की सभी मूलभूत समस्यायें मनोवैज्ञानिक हैं। मन स्वयं में निःस्वभाव है और उसके साथ सभी दृष्टियां निःस्वभाव हैं इस तथ्य को प्रकट करके सभी प्रकार के विध्वंस एवं निर्माण से सम्बन्धित समस्याओं के उत्कृष्ट समाधान के लिए मार्ग मिला।

शून्यवाद में कर्मफल की स्थिति

अनेकानेक युक्तियों एवं प्रमाणों के द्वारा वस्तुओं के नित्य-अनित्य, लक्ष्य-लक्षण, भाव-अभाव, संख्या और काल, कार्य-कारण, कर्म-फल, क्रिया-कर्ता, उत्पाद-स्थिति, बन्ध-मोक्ष, क्षणभंगता आदि सभी प्रकार की व्यवस्था, सत्ता एवं स्वभावमात्र का निषेध कर देने पर यह प्रश्न उठता है कि-क्या सब कुछ अभावमात्र है, या कहीं कोई किंचित सत् भी है ? इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं-हाँ, किंचित सत् भी है। जैसे-

निर्मिमीते यदा ऋद्धया भगवाञ्च तथागतः।
तेन निर्मितकेनापि ह्यन्यो निर्मीयते पुनः।।४०।।

- शून्यतासप्ततिः

अर्थात् रूपादि वस्तु की सत्तामात्र का निषेध कर देने के बाद भी कुछ रह जाता है। जैसे-भगवान् ने अपने ऋद्धि बल से किसी कन्या आदि निर्मितक का निर्माण किया हो; साथ ही उस निर्मितक कन्या ने भी पुनः अन्य कोई कन्या का निर्माण किया हो तो इन दोनों निर्मितक कन्याओं के नाम संज्ञा आदि की एक प्रकार की व्यावहारिक सत्ता सर्वसाधारण होती है, जैसे उन्हें देखने वाले लोगों के प्रति उनकी प्रतिभासित सत्ता। उन्हें

अपने स्मरण पटल पर रखकर याद करने एवं उनके गुण दोषों की विवेचना करने वालों के प्रति बौद्धिक सत्ता। उन्हें देखकर जिनके चित्त में रागादि का संचार होता है, ऐसे लोगों के प्रति सांक्लेशित सत्ता। उन्हें देखकर या उन्हें आलम्बन बनाकर जिनमें वैराग्यभाव उत्पन्न होता है, ऐसे लोगों के प्रति व्यवदानिक सत्ता विद्यमान रहती है, तथापि वास्तव में उन दोनों निर्मितक कन्याओं की सत्ता केशाण्डुक के समान असत् एवं मिथ्या ही होती है और अनुपहत दृष्टि वालों के समक्ष वह खपुष्प के समान असत् ही होती है। यद्यपि उन निर्मितकों की वस्तु सत्ता खपुष्प के समान ही है; पर उनसे सम्बन्धित व्यावहारिक जगत में उनका कर्ता, क्रिया और कर्म आदि सबका व्यवहार होता हैं उसी प्रकार कर्म फल एवं कार्यकर्ता-आदि धर्मों की व्यावहारिक सत्ता का भी प्रतिवाद नहीं किया जा सकता है।

संक्षेप में, सभी प्रकार के स्वभाव एवं सत्ता का निषेध कर देने के बाद भी प्रतीति का निषेध नहीं हो पाता है और न उसका निषेध ही किया जा सकता है। सम्पूर्ण प्रज्ञापारमितासूत्रों एवं उससे सम्बन्धित शास्त्रों का प्रतिषेध्य विषय प्रतीति के साथ प्रतीयमान वह आकार है, जिसके आधार पर घट-पटादि को हम वास्तविक समझते हैं। वास्तव में यही सत्याभिनिवेश का स्थान है। इसके निरस्त होने के बाद उस माया-कन्या के समान 'वह प्रतीति' मात्र प्रतीति ही रह जाती है। वह केवल 'इदंप्रत्ययता' मात्र रह जाती है और साथ ही किसी भी युक्ति या प्रमाण के द्वारा इसकी इस इदंप्रत्ययता का अपलाप भी नहीं किया जा सकता है। यह लौकिक एवं अलौकिक अर्थात् समस्त व्यवहारों एवं व्यवस्थाओं का आधार होती है। जिस प्रकार शून्यता परमार्थ के रूप में सत्य है, उसी प्रकार यह प्रतीति भी संवृत्ति के रूप में उसी प्रकार सत्य एवं तथ्य है। सत्य होने में इन दोनों में कोई अन्तर नहीं होता है। जिन दर्शन में इन दोनों सत्यों में से किसी एक का अपलाप होता है, तो दोनों का अपलाप होना अनिवार्य हो जाता है। यही कारण है कि माध्यमिक दर्शन में व्यवहार के नियम विप्लव होने के लिए कोई अवकाश नहीं रहता है।

इतना ही नहीं, इस नय के अनुसार रूपादि की प्रतीति, स्वभावतः माया कन्या के समान मिथ्या होते हुए भी जिसका अपलाप नहीं किया जा सकता, रूपादि धर्मों की निःस्वभावता को अभिव्यक्त करती है और यह शाश्वत अन्त का आत्यन्तिक रूप से निषेध करती है। दूसरी ओर उस प्रतीति के द्वारा निरूपित रूपादि वस्तुओं की निःस्वभावता अपने अधिष्ठान उक्त 'प्रतीति' की मिथ्या, सापेक्षता एवं प्रतीत्यमात्रता का विधान करता है और साथ ही यह कार्य-कारण के उच्छेद का आत्यन्तिक रूप से निषेध करती है। ये माध्यमिक दर्शन के असाधारण मुद्दे हैं। इस असाधारण तथ्य की ओर संकेत करते हुए आचार्य कहते हैं-

कर्ता निर्मितकेनेव कर्मनिर्मितसदृशम्।

शून्यं स्वभावतो यत्सत् कल्पनामात्रमेव तत्।। - शून्यतासप्तति ४२

मिलिन्दपञ्हो में कर्मवाद के सन्दर्भ में कई सन्दर्भ विचारणीय हैं। मिनाण्डर नामक राजा (ग्रीक) पहली शताब्दी में भारत में आया था। वह तत्कालीन धर्माचार्यों से प्रश्न करता है।

प्र. १. क्या जो लोग इस लोक में लगड़े लूले हैं वे अगले लोक में भी इसी प्रकार होंगे ?

यह प्रश्न शाश्वतवादियों से किया ज्ञाता है, वे निरुत्तर हैं।

प्र. २. लोक का पालन कौन करता है?

उत्तर दिए जाने पर कि पृथ्वी। पुनः प्रश्न किया जाता है कि जब पृथ्वी लोक का पालन करती है तो कोई पृथ्वी आदि को लांघकर नरक आदि में क्यों चला जाता है उस समय पृथ्वी रक्षा क्यों नहीं करती।

प्र. ३. प्रव्रज्या के सन्दर्भ में भिक्षु से पूछा जाता है कि आप एकासनिक हैं। निश्चय ही पूर्वजन्म में आप दूसरे के भोग को छीनने वाले रहे होंगे, जिसके कर्म के परिणाम स्वरूप एक बार ही आहार मिलता है। इसी प्रकार खुले आकाश में रहने, जूता न पहनने में भी पूर्व के कारण है। राजा मिनाण्डर कहता है कि इसमें मुझे कोई तप या ब्रह्मचर्य नहीं दिखाई देता, भिक्षु चुप रह जाते हैं।

आगे भिक्षु मिलकर नागसेन से प्रार्थना करते हैं कि धर्म की रक्षा के लिए मिलिन्द से संवाद करें। कर्मवाद की पुष्टि इस प्रकार की गई है।

मिलिन्द राजा के पूछे जाने पर कि जन्म कौन ग्रहण करता है।

उत्तर दिया गया कि-

सकिलेसो पटिसन्दहति, निक्क्लेसो न पटिसन्दहति। - मिलिन्दपञ्हो, पृ. २४

धर्मसंतति के सन्दर्भ में पूछे जाने पर कि जो उत्पन्न होता है वही रहता है या अन्य? उत्तर दिया गया है न वही न अन्य। इसको समझाने के लिए कई उदाहरण दिए गए हैं। जैसे गर्भ की अवस्था एवं जवानी में न वही है, न अन्य, प्रदीप की लौ की तरह खीर, दूध आदि न वही रहता है न अन्य।

पूछे जाने पर कि जो जन्म लेता है वह जानता है कि जन्म लेगा? उत्तर दिया गया है हाँ? जैसे धान्य के स्वामी को पता रहता है कि उसके भण्डार में कितना धान्य है। आगे स्पष्ट किया है कि कोई जानता है कोई नहीं जानता, कायिक वेदना को जानता है चेतसिक वेदना को नहीं जानता।

पूछे जाने पर कि जन्म कौन ग्रहण करता है (को पटिसन्दहति?)

उत्तर दिया गया है-नाम रूप पटिसन्दहति। पुनः पूछे जाने पर कि क्या यही नामरूप जन्म लेता है? उत्तर नहीं। यह नाम रूप शोभन या पाप कर्म करता है उस कर्म से अन्य नामरूप जन्म लेता है।

प्रश्न- यदि यही नाम रूप जन्म नहीं लेता, तो वह पाप कर्म से मुक्त हो जाएगा।

उत्तर- यदि जन्म न ले तो मुक्त हो गया, जन्म लेता है तो मुक्त नहीं हुआ।

यदि न पटिसन्दहेय्य मुत्तो भवेय्य पापकेहि कम्मेहिं यस्मा च खो पटिसन्दहति, तस्मा न मुत्ता पापकेहि कम्मेहि ति।"

उदाहरण दिया गया है कि एक व्यक्ति आम का पेड़ लगाता है फल आने पर कोई उसके आम तोड़ ले; उसके मना करने पर यह कहे कि तुम्हारे द्वारा लगाए आम दूसरे हैं, यह दूसरा है ? उसी प्रकार की स्थिति नाम-रूप की है।

धान (सालि) का, प्रदीप, बच्ची, दूध का उदाहरण दिया गया है। रूप परिवर्तित होने पर भी पहले का सम्बन्ध रहता है - मिलिन्द पञ्ह, पृ. ३८

प्रश्न. पांच आयतन नामकर्मों से उत्पन्न होते हैं या एक से ?

उत्तर. नाना कर्मों से, जैसे- एक खेत में नाना बीज बोए जाए तो नाना फल होते हैं।

प्रश्न. क्या कारण है कि सभी मनुष्य समान नहीं हैं? कोई अल्प आयु वाले हैं, कोई दीर्घ, कोई अल्पबाधा वाले है। कोई दुर्वर्ण, कोई सुवर्ण, कोई अल्प शिक्षा वाले, महाशिक्षा वाले, कोई महाबाधा वाले, कोई बड़े कुलीन, कोई दुष्प्रज्ञा वाले, कोई प्रज्ञावान?

उत्तर. जैसे वृक्ष सभी समान नहीं हैं? कोई अम्ल, कोई लवण, कोई तीक्ष्ण, कोई कड़ुए, कोई मधुर?

बीजों के नाना होने से, इसी प्रकार कर्मों के नाना होने से मनुष्य एक जैसे नहीं हैं, कहा है कि

कम्मस्सका, माणव, सत्ता, कम्मदायादा कम्मयोनि, कम्मबन्धू
कम्मपटिसरणा,। कम्मं सत्ते विभजति, यदिदं हीनप्पवीततायाति।

नामरूप क्या है ?

- तं (महाराज) तत्थ, आलोरिकं-एतं रूपं, ये तत्थ सुखुमा चेतसिका धम्मा-एतं नामं ति। ये तत्थ सुखुमा चित्तचेतसिका धम्मा-एवं नामं ति।

प्रश्न. केन कारणेन नामं येव न पटिसन्दहति, रूपं येव वा?

उत्तर दिया गया है- 'अञ्ञमञ्ञूपनिस्सिता, महाराज, एते धम्मा एकतो व उप्पज्जन्ती ति। यथा-कुक्कुटिया कललं न भवेय्यं, अण्डं पि न भवेय्य, यं च तत्थ कललं, यं च अण्डं- उभो पेते अञ्ञमञ्ञूपनिस्सिता, एकतो व नेसं उप्पत्ति होति, एंवमेव खो, महाराज, यदि तत्थ नामं न भवेय्य, रूप पि न भवेय्य, यञ्चेव तत्थ नामं, यञ्चेव तत्थ रूपं-उभो पेते अञ्ञमञ्ञूपनिस्सिता। एकतो व नेसं उप्पत्ति होति। एवमेतं दीघमद्धानं सन्धावित ति। -मिलिन्दपञ्हो, पृ. ३८

राजा के द्वारा पूछे जाने पर कि कहा जाता है कि दीघमद्धानं ति, क्या है? उत्तर दिया गया है कि अतीतो, महाराज, अद्धा, अनागतो अद्धा, पच्चुप्पन्नो अद्धा ति। किं पन, भन्ते, सब्बे अद्धा अत्थींति

पूछे जाने पर कि सभी के लिए मार्ग है?

उत्तर- ये सङ्खारा अतीता विगता निरुद्धा विपरिणता, सो अद्धातनात्थि। ये धम्मा विपाका, ये च विपाकधम्मधम्मा, ये च अञ्ञ पटिसन्धिं देन्ति, सो अद्धा अत्थि। ये सत्ता कालद्धता अञ्ञ उप्पन्ना, सो च अद्धा अत्थि। ये च सत्ता परिनिब्बुता, सो च अद्धा नत्थि, परिनिब्बुत्तति। - नामरूपापटिसन्दहनपञ्हो (मि. पृ. ३४)

अद्धा का मूल अविद्या बतलाया गया है। पुनः अविद्या से अन्य प्रत्यय होते ही हैं। (पृ. ३६)

बौद्धदर्शन सम्मत कर्मों के विपाक की कल्पना जानने के पहले यह जान लेना चाहिए कि हम जो अच्छे या बुरे कर्म करते हैं उसको लिखने के लिए ईश्वर जैसी शक्ति नहीं है। धम्मपद में भी कहा गया है कि सभी अच्छे या बुरे कर्मों का उद्गम स्थान मन ही है।

मनोपुब्बंगमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा च पसन्नेन भासति.वा करोति वा,
ततो नं सुख मन्वेति छाया व अनुपायनी।।
मनोपुब्बंगमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा च पदुट्ठेन भासति वा करोति वा,
ततो नं दुक्ख मन्वेति चक्कं वा वहतो पदं।। - धम्मपद, १-२

राग या द्वेष की यह ध्वनि तब तक बनी रहती है जब तक उसका क्षय नहीं होता, मन चंचल है हमेशा कटु या अच्छा नहीं रहता। जितने समय तक मन दूषित रहेगा सूक्ष्म मानसिक चिन्तन के विकास की योग्यता कम रहेगी। सुकृत-दुष्कृत में जिसका पलड़ा

भारी रहेगा, वही प्रभावी होगा, इसका प्रभाव भी तुरन्त पड़ता है। यह क्रम बाल्यकाल से वृद्धावस्था तक चलता रहता है यह क्रम जन्म के पूर्व भी था। आगे भी चलता रहता है। बौद्ध दर्शन में कर्मवैचित्र्य में भी चित्त को प्रधान माना है।

कर्मजं लोकवैचित्र्यं चेतना तत्कृतं च तत्।
चेतना मानसं कर्म तज्जन्यकाय वाक्कर्मणी।।

उपसंहार

कर्मवाद के आभ्यन्तर पक्ष को देखा जाय कि अच्छे बुरे कर्म का फल भारतीय दर्शन की वैदिक, जैन एवं बौद्ध तीनों विचारधाराएं स्वीकार करती हैं। उनके बाह्य पक्ष में अन्तर है। वैदिक परम्परा में जहाँ ईश्वर एवं आत्मा इसमें प्रमुख भूमिका अदा करते हैं बौद्धधर्म में बिना ईश्वर एवं आत्मा के मात्र नामरूप एवं विज्ञान के आलयविज्ञान का सहारा लिया गया है। जैन परम्परा में आत्मा की प्रधानता है।

चार्वाक परम्परा में प्रत्यक्ष प्रमाण मात्र को माना गया हैं। परलोक को नहीं माना है लेकिन इस लोक में कर्मफल मानना भी महत्त्वपूर्ण है। सुख भोगने के लिए परिश्रम करने की प्रेरणा दी गई है। कहा गया है कि चिडिया खेत खा जाएगी इसलिए खेती न करें ठीक नहीं। संसार में दुःख है इसलिए सुख नहीं छोड़ना चाहिए। वर्तमान में घोषित रूप में भले ही अपने को चार्वाक का अनुयायी न कहें लेकिन वास्तविकता में तो अधिकांश चार्वाक के अनुयायी ही दिखाई देते हैं। आज आस्तिकता का दंभ करने वाले परलोक से डरते होते तो वर्तमान में इतना अनाचार/कदाचार नहीं होता।

भीमराव अम्बेडकर कर्मवाद के सन्दर्भ में इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि पुनर्जन्म को मानकर वर्तमान जीवन की असमानता दूर नहीं की जा सकती, क्योंकि हम दलितों की दरिद्रता का कारण पूर्व जन्म के कारण मान लेते हैं। इससे समाज में पिछड़े लोगों का मनोबल गिरा रहता है जबकि समानता में बहुत कुछ हमारी सामाजिक व्यवस्था दोषी होती है। इसलिए डॉ. अम्बेडकर दलित वर्ग को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि अभी कुछ देरी नहीं हुई है उठो, जागो, शिक्षित बनो एवं अपने अधिकार के लिए संघर्ष करो, सफलता तुम्हारे कदम चूमेगी। स्वयं डॉ. अम्बेडकर इस बात की मिशाल हैं कि दलित परिवार में पैदा होकर भी वे शिक्षा के शीर्ष स्थान पर पहुंचे। उन्हें भारतीय संविधान निर्माण की समिति के अध्यक्ष का गौरव मिला।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि सभी दार्शनिक परम्पराएं समाज में व्यवस्था बनाए रखने एवं व्यक्ति के विकास में कर्मवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करती है।

प्रत्येक देश व धर्म में कर्म के महत्त्व की प्रतिष्ठा मिलती है। कर्म की मानव-जीवन में अनिवार्यता निहित है। 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' के अनुसार जीवन में कर्म का अविच्छेद सम्बन्ध है।

संदर्भ-संकेत

१. जैन संस्कृति, डॉ. राका जैन एवं लेखक का अप्रकाशित ग्रन्थ
२. जैन धर्म-पं. कैलाशचंद्र शास्त्री
३. जैन कर्मसिद्धान्त-डॉ. रवीन्द्रनाथ मिश्र, पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी-५
४. बौद्ध विज्ञानवाद : चिन्तन एवं योगदान - सम्पादक डॉ. राधेश्याधर द्विवेदी तिब्बत इन्स्टीट्यूट, सारनाथ
५. प्रतीत्यसमुत्पाद - डॉ. रामशंकर त्रिपाठी, तिब्बत इन्स्टीट्यूट, सारनाथ
६. धम्मपद
७. मिलिन्दपञ्हो
८. प्रारम्भिक बौद्धधर्मदर्शन-डॉ. विजयकुमार जैन, लखनऊ
९. शून्यतासप्ततिः - नागार्जुन, तिब्बत इन्स्टीट्यूट, सारनाथ



जैन एवं बौद्ध आगमों में तप की अवधारणा

तपस्या भारतीय दर्शनशास्त्र एवं उसके समस्त इतिहास की प्रस्तावना है। सभी भारतीय आचार दर्शनों का जन्म तपस्या की गोद में हुआ। वेद-वेदांग, दर्शन, पुराण, धर्मशास्त्र आदि सभी साधन रूप तपस्या के उपासक हैं। श्रद्धा, ज्ञान, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, समाधि, स्वाध्याय, क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, संयम, सेवा, सत्कारादि सभी गुण तपस्या की परिधि में आते हैं। प्रज्ञाचक्षु पं. सुखलाल संघवी तपोमार्ग के विकासक्रम को चार भागों में बांटते हैं- १. अवधूत साधना २. तापस साधना ३. तपस्वी साधना ४. योग साधना। इनमें तप का स्वरूप स्थूल से सूक्ष्म की ओर विकसित होता गया। साधना देह-दमन से चित्तवृत्ति के निरोध की ओर बढ़ती गई। जैन साधना तपस्या एवं योग साधना का प्रतिनिधित्व करती है जब कि बौद्ध योग साधना का प्रतिनिधित्व करती हैं। पं. संघवी जी बुद्ध, महावीर एवं गोशालक की तपस्या में भिन्नता मानते हैं। भगवान् बुद्ध ने जो कठोर तप किए थे वे अवधूत मार्ग जैसे उग्रतप थे। भगवान् बुद्ध को जब उसमें भी सन्तोष नहीं हुआ तो वे ध्यान मार्ग की ओर प्रवृत्त हुए और उन्होंने कायिक तपस्या को निरर्थक माना।

जैन एवं बौद्ध दोनों श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं। जो साधना के लिए श्रम करता है, वह श्रमण कहा जाता है।

जैन साधना में तप-

जैन साधना का लक्ष्य शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि है। जैन दर्शन की मान्यता है कि प्राणी कायिक, वाचिक एवं मानसिक क्रियाओं के माध्यम से कर्म-वर्गणाओं के पुद्गलों को अपनी ओर आकर्षित करता है। वे आकर्षक कर्मवर्गणाओं के पुद्गल राग-द्वेष या कषायवृत्ति के कारण आत्म तत्त्व से एकीभूत होकर अपनी शुद्ध सत्ता शक्ति एवं ज्ञान-ज्योति को आवरणित कर देते हैं, अतः आत्मतत्त्व की उपलब्धि के लिए इनका विलगाव आवश्यक है। इस प्रक्रिया को निर्जरा कहते हैं। तप ही वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा अविपाक निर्जरा होती है, जैसे अग्नि तृणादि ईन्धन को भस्म कर देती है, उसी तरह अनशनादि अर्जित-मिथ्यादर्शनादि कर्मों को दाह करते हैं तथा देह और इन्द्रियों की विषय आवृत्ति रोककर उन्हें तपा देते हैं। अतः ये तप कहे जाते हैं।

जैन धर्म में, साधना पद्धति के चार प्रकार में तप की गणना की गई है। चार प्रकार इस प्रकार है- सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र एवं सम्यक् तप। ज्ञान से जीवादि भावों को जाना जाता है। दर्शन से श्रद्धान होता है। चारित्र से कर्मों का निरोध होता है। तप से विशुद्धि प्राप्त होती है। जैसे मिट्टी आदि से युक्त स्वर्णधातु तपाए जाने पर विशुद्ध हो जाती है, वैसे ही जीवतत्त्व तप के द्वारा विशुद्धता को प्राप्त होता है।

तपश्चरण के प्रभाव से चमत्कारिक शक्तियां भी प्राप्त होती हैं, जिन्हें ऋद्धियां कहते हैं।

आभ्यन्तर और बाह्य- ये तप के दो भेद हैं। प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान एवं व्युत्सर्ग - ये आभ्यन्तर तप के भेद हैं। अनशन, अवमौदार्य, वृत्ति-परिसंख्यान, रसपरित्याग, काय-क्लेश तथा विविक्त शय्यासन-ये बाह्य तप के छः भेद हैं। इनमें आभ्यन्तर तप प्रधान हैं। इसके बिना बाह्य तप कर्मनिर्जरा करने में असमर्थ हैं। बाह्य तप केवल पुण्य बन्ध का कारण होता है।

बौद्ध आगमों में तप-

भगवान बुद्ध मध्यममार्गी थे। उन्होंने अपने मध्यममार्ग में सभी प्रकार की अतियों का निषेध किया है। धर्म के क्षेत्र में दो अतियों का प्रतिपादन करते हुए अत्यधिक कामसुख एवं कठोर तपस्या का निषेध किया गया है। आत्मपीड़ा वाली तपस्या के त्याग का उपदेश देते हुए कहा गया है। आत्मपीड़ा वाली तपस्या दुःख देने वाली अनार्य एवं अनर्थ करने वाली है। भगवान बुद्धत्व प्राप्ति के बाद ध्यान करते हुए सन्तोष का अनुभव करते हैं कि वे दुष्कर तपस्या से छूट गए। मार के कहने पर कि वे तपकर्म से दूर होकर शुद्धि के मार्ग से हट गए हैं, भगवान मुक्तिलाभार्थ तपस्या को उसी प्रकार व्यर्थ बतलाते हैं जिस प्रकार जमीन पर बिना पतवार के पड़ी हुई नाव।

भगवान सभी प्रकार की तपस्याओं के विरोधी नहीं थे। वे मात्र कठोर तपस्या को अति मानते थे, विभिन्न प्रसंगों में वे तपस्या की प्रशंसा करते हैं। एक प्रसंग में वे कहते हैं कि यदि कोई कुशल धर्मों के लाभ के लिए अपने को पीड़ा देता है और उसमें सफलता प्राप्त करता है तो वह प्रशंसनीय है। भगवान बुद्ध तपस्वियों में तपस्वी, रुक्षाचारियों में रुक्षाचारी, जुगुप्सुओं में जुगुप्सी तथा प्रविवेकों में परम विवेकी थे। वे कहते थे कि तप या व्रत के करने से किसी के कुशल धर्म बढ़ते हैं, अकुशल धर्म घटते हैं तो हमें अवश्य करना चाहिये।

१. कोई रुक्षाजीवी तपस्वी श्रद्धापूर्वक घर से प्रव्रजित होता है। विचार करता है कि कुशल धर्मो का लाभ करूंगा। वह अपने को कष्ट एवं पीड़ा देता है, किन्तु न तो वह कुशल धर्मो का लाभ करता है और न अलौकिक धर्म तथा परम ज्ञान का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार वह रुक्षाजीवी तपस्वी तीन स्थानों से निन्दनीय होता है-अपने को कष्ट एवं पीड़ा से, कुशल धर्मो का लाभ नहीं करने से तथा परम ज्ञान का साक्षात्कार नहीं करने से।

२. कोई रुक्षाजीवी तपस्वी श्रद्धापूर्वक प्रव्रजित होता है। अपने को कष्ट एवं पीड़ा देता है। वह कुशल धर्मो का लाभ तो कर लेता है लेकिन धर्म तथा परम ज्ञान का साक्षात्कार नहीं करता। इस प्रकार वह एक धर्म के साक्षात्कार करने से प्रशंसनीय होता है शेष दो से निन्दनीय होता है।

३. कोई श्रद्धापूर्वक प्रव्रजित होता है। अपने को कष्ट एवं पीड़ा देता है। वह कुशल धर्मो का लाभ कर लेता है तथा अलौकिक धर्म एवं परम ज्ञान का साक्षात्कार भी कर लेता है। इस प्रकार का रुक्षाजीवी तपस्वी दो से प्रशंसनीय होता है- धर्म एवं परमज्ञान का साक्षात्कार करने एवं कुशल धर्मों का लाभ करने से, लेकिन एक स्थान से निन्दनीय होता है-अपने को कष्ट एवं पीड़ा देने से। संयुत्तनिकाय का प्रथम ओघतरण सुत्त मध्यम मार्ग को प्रतिपादन करने के लिए सबसे अच्छा उदाहरण है। भगवान् से पूछे जाने पर कि आपने बाढ़ को कैसे पार किया? भगवान् उत्तर देते हैं कि उन्होंने बिना रुकते और बिना कोशिश करते हुए बाढ़ को पार किया तथा बतलाया कि यदि रुकने लगता तो डूब जाता और यदि कोशिश करने लगता तो बह जाता- इसलिए उन्होंने बिना रुकते और बिना कोशिश करते हुए बाढ़ को पार किया।[1] रुक जाने से तात्पर्य-कामभोग में लिप्त होने से है तथा बहुत कोशिश करने में आत्मपीड़न वाली तपश्चर्या का निर्देश है, जिसमें एक को भगवान् ने नदी में डूबने के समान बतलाया एवं दूसरे को बाढ़ में बहने के समान बतलाया है तथा इन दोनों अन्तों का वर्जन करते हुए मध्यममार्ग के रूप में आर्य अष्टांगिक मार्ग का प्रतिपादन किया है। भगवान् द्वारा उपर्युक्त प्रकार से दो अन्तों के वर्जन की बात कहने पर देवता ने कहा था कि वह चिरकाल के बाद ब्राह्मण को निर्वाण प्राप्त किया हुआ देखता है, जिसने बिना रुके, बिना कोशिश करते संसार की बाढ़ को पार किया।[2]

जैन तथा बौद्ध दोनों परम्परायें निवृत्ति परक धर्म मानती हैं। दोनों गृहस्थ को बन्धनकारक और दुःखदायी मानते हैं और सन्यास को मुक्तिदाता। दोनों परम्परायें मानती हैं कि परम श्रेय की उत्पत्ति के लिए आत्मसंतोष, अनासक्ति भाव, माध्यस्थ भाव और ममत्व भाव की आवश्यकता है, जिसके लिए एकान्त तथा निर्मोही जीवन की आवश्यकता है। जो गृहस्थ अवस्था में सुखी नहीं है, उसके लिए सन्यास उचित है। सन्यास पर इसलिए जोर दिया जाता है कि अधिकांश व्यक्तियों में इतनी योग्यता नहीं कि वे गृहस्थाश्रम में राग-द्वेष से ऊपर उठ सकें। राग-द्वेष से मुक्त गृहस्थ की प्रशंसा की गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन एवं बौद्ध परम्परा में तप के सम्बन्ध में विरोध दिखाई देने पर भी साम्य है।

संदर्भ-संकेत

१. संयुत्त निकाय १, पृ. ३

२. चिरस्सं वत पस्सामि, ब्राह्मणं परिनिब्बुतं।
अप्पतिट्ठं अनायूहं, तिण्णं लोके विसत्तिकं ति।। - वही, पृ. ३

● अहिंसावाणी तप विशेषांक में प्रकाशित



जैन एवं बौद्ध परम्परा में ध्यान

भारतीय संस्कृति में ध्यान का महत्त्व सदैव रहा है। संयमपूर्वक जीवन साधना के विभिन्न प्रकार इसमें समेटे जा सकते हैं। वस्तुतः योग को बौद्ध-जैन एवं पातंजलि आदि में नहीं बांटा जा सकता, व्यवहार में ये रेखाएं खींच दी जाती हैं। नाम रख दिए जाते हैं जैन बौद्ध परम्परा के आधार पर, लेकिन इस बात का पूरा ध्यान रखा जाना है कि ऐसा कोई सिद्धान्त प्रविष्ट न हो जाय जो मूल परम्परा को विकृत कर दे।

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र नं व्रत-दूषणम्।।

(क) जैन परम्परा में ध्यान

जैन दर्शन में मोक्ष ही परम लक्ष्य है, परन्तु कर्मबन्ध ही मोक्ष की प्राप्ति में बाधक तत्त्व है। मोक्ष में बाधक एवं साधक तत्त्वों के रूप में ध्यानों में भेद हैं। मोक्ष की प्राप्ति के लिए ध्यान का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है।

महाप्रज्ञ जी का मानना है कि ''जैनधर्म की साधना पद्धति में अष्टांग योग के सभी अंगों की व्यवस्था नहीं है। प्राणायाम, धारणा और समाधि स्पष्टरूपेण स्वीकार्य नहीं है। यम, नियम, आसन, प्रत्याहार और ध्यान-इनका भी योगदर्शन की भांति क्रमिक प्रतिपादन नहीं है। जैनदर्शन की पद्धति स्वतंत्र है, व्यवस्था भी भिन्न है। जहाँ योग समाप्त होता है, वहीं योग का आदि बिन्दु हैं योग का मूल स्रोत अयोग है। अयोग का अर्थ है केवल आत्मा। योग का अर्थ है आत्मा के साथ सम्बन्ध की स्थापना, योग माध्यम है अयोग की दिशा में जाने का।''[1]

ध्यान शब्द के लिए झान अथवा झाण शब्द का प्रयोग प्राकृत में मिलता है। चित्त को किसी ,एक लक्ष्य पर मुहूर्त भर के लिए एकाग्र करना। ध्यान के विषय में कहा है-

अन्तोमुहुत्तकालं चित्तस्सेकग्गया हवइ झानं। -आवश्यक निर्युक्ति गाथा १४६३

एकाग्रता से चिन्तन के निरोध करने को ध्यान बतलाया है।

एकाग्रचित्तनिरोधो ध्यानम् - तत्त्वार्थसूत्र ६/२७

सर्वार्थसिद्धि में निश्चल अग्नि शिखा के समान अवभासमान ज्ञान को ध्यान कहा है।

ध्यानशतक में स्थिर अध्यवसाय को ही ध्यान बतलाया गया है।

जं थिरमज्झवसाण तं झाणं जं चलं तयं चित्तं। - ध्यान शतक गाथा २

तत्त्वानुशासन में कहा गया है कि परिस्पन्दन से रहित जो एकाग्रचित्त का निरोध है, उसी का नाम ध्यान हैं।

एकाग्रचित्तनिरोधो य परिस्पन्देन वर्जितः तद्ध्यानम्। -तत्त्वानुशासन, गाथा ५६

यही योग है और यही प्रसंख्यान समाधि भी कहलाती है-

तदस्य योगिनो योगश्चिन्तेकाग्रनिरोधकम्।

प्रसंख्यानसमाधिः स्याद् ध्यानं स्वेष्ट फलप्रदम्। -तत्त्वानुशासन, गाथा ६१

ध्यान को निर्जरा एवं संवर का कारण भी कहा गया है।

तद्ध्यानं निर्जरा हेतुः संवरस्य च कारणम्। - तत्त्वानुशासन, गाथा ६१

चित्त विक्षेप का त्याग करना ध्यान है।

चित्तविक्षेपत्यागो ध्यानम् - सर्वार्थसिद्धि ६/२०/४३६/८

किसी एक विषय में निरन्तर रूप से ज्ञान का रहना ध्यान है। वह वास्तव में क्रमरूप ही है, अक्रमरूप नहीं।

यत्पुनर्ज्ञानमैकत्र नैरन्तर्येग कुत्रचित्।

अस्ति तद्ध्यान मात्रापि क्रमो नाप्यक्रमोऽर्थतः।। -पंचाध्यायी, उत्तरार्ध ८४२

आत्मा अपने आत्मा को, अपने आत्मा में, अपने आत्मा के द्वारा, अपने आत्मा के लिए, अपने अपने आत्मा हेतु से ध्याता है, इसलिए कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, और अधिकरण ऐसे षटकारकरूप परिणत आत्मा ही निश्चय तप की दृष्टि से ध्यान स्वरूप है-

स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः।

षट्कारकमयस्तस्माद् ध्यानमात्मैव निश्चयात्।। - तत्त्वानुशासन ७४

इष्टानिष्ट बुद्धि के मूल मोह का छेद हो जाने से चित्त स्थिर हो जाता हैं उस चित्त की स्थिरता को ध्यान कहते हैं।

इष्टानिष्टार्थमोहादिच्छेदाच्चैतः स्थिरं ततः।

ध्यानं रत्नत्रयं तस्मान्मोक्षस्ततः मुखम्। - अनगारधर्मामृतम् १/११४-११७

संसार चक्र से मुक्ति पाने के लिए सही पुरुषार्थ है मोक्ष। मोक्ष पाने तक ध्यान-ध्याता-ध्येय ही एक मात्र सहायक है। मोक्ष का साधन ध्यान है, साधक ध्याता है और ध्येय साधक 'आराध्यदेव' है। ध्यान-ध्याता-ध्येय की अभिन्न दशा अथवा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र का एकीकरण, साध्य-साधन-साधक का समष्टि रूप ही मोक्षदशा है-कविवर दौलतरामजी ने स्पष्ट लिखा है-

जहां ध्यान-ध्याता-ध्येय को न विकल्प वच भेदन जहां,
चिद्भाव कर्म चिदेश करता चेतना किरिया तहां
तीनों अभिन्न अखिन्न शुद्ध उपयोग की निश्चल दशा
प्रगटी जहां दृग ज्ञान व्रत-ये तीनधा एकै लशा।

ध्यान आभ्यन्तर तप के अन्तर्गत परिगणित है। चित्त के विक्षेप का त्याग करना ध्यान तप है। आचार्य उमास्वामि ने उत्तम संहनन वाले को ध्याता की संज्ञा दी है। ध्याता के द्वारा अन्तर्मुहूर्त तक एक विषय में चित्तवृत्ति को रोकना ध्यान है यथा-

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमन्तर्मुहूर्तात्। - तत्त्वार्थसूत्र ९/२७

ज्ञान व्यग्र होता है और ध्यान एकाग्र। अतः चित्त की चंचलता को रोकने के लिए आचार्य उमास्वामी ने एकाग्र शब्द दिया है। चिन्तानिरोध ध्यान का विशेषण है, चिन्ता ज्ञान का पर्याय है। उस ज्ञान की व्यग्रता दूर होना ही ध्यान है। जैनदर्शन में एकाग्र ध्यान की प्रधानता है। 'अग्र' से अभिप्राय आत्मा है। ध्यान में आत्मा को ही प्रधान लक्ष्य माना गया है। ध्यान के लिए 'एकाग्रचिन्तानिरोध' ही यथार्थ है। किसी एंक विषय में निरन्तर रूप से ज्ञान का रहना ध्यान है और वह वास्तव में क्रमरूप ही है। जो मोह और रागद्वेष से दूर है तथा मन, वचन, काय रूप योगों के प्रति उपेक्षित है उसके शुभाशुभ को जलाने वाली ध्यानमय अग्नि प्रकट होती हैं।

ध्यान के अंग- ध्याता, ध्यान, ध्येय व ध्यान-फल रूप चार अंग वाला ध्यान अप्रशस्त और प्रशस्त के भेद से दो प्रकार का है।

ध्यान के भेद- आत्मा (जीव) का स्वभाव परिणमनशील है। शुभाशुभ असंख्य विचारधाराओं को समझना कठिन होने से ज्ञानियों ने उन्हें चार भागों में विभाजित किया हैं उन्हें ध्यान की संज्ञा दी गई है। आगम में मुख्यतः ध्यान के चार भेद हैं- १. आर्त्तध्यान, २. रौद्रध्यान, ३. धर्मध्यान, ४. शुक्लध्यान।

आर्त्तध्यान के चार भेद-

(१) अमनोज्ञ- वियोगचिन्ता- अमनोज्ञ शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श तथा उनके साधनभूत वस्तुओं का संयोग होने पर उनके वियोग की चिन्ता करना अमनोज्ञ वियोगचिन्ता आर्त्तध्यान है।

(२) मनोज्ञ-अवियोगचिन्ता- पांचों इन्द्रियों के विभिन्न मनोज्ञ विषयों का एवं माता, पिता, पुत्र-पुत्री, पत्नी, भाई-बहिन, मित्र, स्वजन, परिजन आदि सबके मिलन पर वियोग न होने का अध्यवसाय (विचार) करना तथा भविष्य में भी इनका वियोग न हो ऐसा निरन्तर सोचना मनोज्ञ-अवियोगचिन्ता नामक द्वितीय आर्त्तध्यान है।

(३) आतंक (रोग) वियोगचिन्ता- वात, पित्त और कफ के प्रकोप से उत्पन्न व्याकुलता को दूर करने के लिए सतत् चिन्तित रहना 'आतंक-वियोगचिन्ता' नामक तीसरा आर्त्तध्यान है।

(४) भोगेच्छा अथवा निदान- पांचों इन्द्रियों में दो इन्द्रियाँ कामी (कान-आँख) हैं, जबकि शेष तीन इन्द्रियां (रसना, घ्राण, स्पर्शन) भोगी हैं। इन पांचों इन्द्रियों के पांच विषय हैं-शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श। इन इन्द्रियों के द्वारा काम-भोगों को भोगने की इच्छा करना ही 'भोगेच्छा' नामक चौथा आर्त्तध्यान है।

रौद्रध्यान के भेद- रौद्रध्यान के चार भेद इस प्रकार है-

(१) हिंसानुबंधि- द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की हिंसा का चिन्तन करना। वर्तमान काल में भी हिंसा के विविध प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं, वे सब हिंसानुबंधि रौद्रध्यान ही हैं। इसे 'हिंसानन्दि' भी कहते हैं।

(२) मृषानुबंधि- झूठ बोलना आदि इसके अनेक प्रकार है। इसे 'मृषानन्दि' भी कहते हैं।

(३) स्तेयानुबंधि- चोरी करना, डाका डालना, चोरी की वस्तु आदि लेना स्तेयानुबंधि रौद्र-ध्यान है इसे 'चौर्यानन्द' या 'चौर्यानन्दि' भी कहते हैं।

(४) संरक्षणानुबन्धि- वस्तु, पदार्थ, आभूषण आदि का संरक्षण करने की तीव्र भावना रखने का चिन्तन करना संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान है। इसे 'संरक्षणानन्द' अथवा 'विषयानन्दि' या 'विषय-संरक्षणानुबन्धि' भी कहते हैं।

धर्मध्यान के भेद-

(१) आज्ञाविचय धर्मध्यान- (यह) आज्ञा+विचय इन दो 'शब्दों' के संयोग से बना हैं 'आज्ञा' शब्द से 'आगम' 'सिद्धान्त' और 'जिनवचन' को लिया जाता है। विचय का अर्थ चिन्तन या अभ्यास है।

(२) अपायविचय धर्मध्यान- रागादि क्रिया, कषायादिभाव, मिथ्यात्वादि हेतु आस्रव के पांच कार्य, ४ प्रकार की विकथा, ३ प्रकार का गौरव (ऐश्वर्य, सुख, रस-साता), ३ शल्य (माया शल्य, मिथ्यादर्शनशल्य, निदानशल्य), २२ परीषह (क्षुधा-तृषा, शीत-ऊष्ण, दंश-मशक, नग्नत्व, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, जल्ल (पसीना), सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन) इन सभी उपायों का उपाय सोचना, विचारणा ही 'अपायविचय' धर्मध्यान है।

(३) विपाकविचय धर्मध्यान-कर्म चार रूप में बंध को प्राप्त होते हैं- प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, रसबंध और प्रदेशबंध। इनके विपाकोदय का चिन्तन करना 'विपाकविचय धर्मध्यान' है।

(४) संस्थानविचय धर्मध्यान- 'संस्थान' का अर्थ 'संस्थिति', 'अवस्थिति', 'पदार्थों का स्वरूप' है। 'विचय' का अर्थ-चिन्तन अथवा अभ्यास है। इसमें लोक का स्वरूप, आकार, भेद, षट् द्रव्य-उनका स्वरूप, लक्षण, भेद, आधार, स्वभाव प्रमाण, द्वीप, समुद्र, नदियां आदि लोक में स्थित सभी पदार्थों का, उत्पाद-व्यय, ध्रौव्यादि पर्यायों का चिन्तन किया जाता है।

धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षा

(१) एकत्व-अनुप्रेक्षा- अकेलेपन का चिन्तन करना, जिससे अहंकार का नाश होता है।

(२) अनित्य-अनुप्रेक्षा- पदार्थों की अनित्यता का चिन्तन करना। इस भावना के सतत् चिन्तन से ममत्व का नाश हो जाता है।

(३) अशरण-अनुप्रेक्षा- अशरण दशा का चिन्तन करना। संसार में जो वस्तु नित्य, अनित्य, क्षणिक और नाशवान हैं। वे सभी अशरण-रूप हैं। जन्म-जरा और मरण, आधि-व्याधि-उपाधि से पीड़ित जीवों का संसार में कोई शरण नहीं है। शरण रूप यदि कोई है तो एक मात्र जिनेन्द्र का वचन ही।

(४) संसार-अनुप्रेक्षा- चतुर्गति में परिभ्रमण कराने वाले जन्म-मरण रूप चक्र को संसार कहते हैं। जीव इस संसार में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पंच संसार चक्र में मिथ्यात्वादि के तीव्रोदय से दुःखित होकर भ्रमण करता है, अतः संसार परिभ्रमण का चिन्तन करना संसारानुप्रेक्षा है।

शुक्लध्यान के भेद- चेतना की स्वाभाविक (उपाधि-रहित) परिणति को 'शुक्लध्यान' कहा जाता है। उसके चार प्रकार हैं-

(१) पृथकत्व-वितर्क-सविचार (सविचारी)- इनमें तीन शब्द आये हुए हैं जिनका अर्थ है-'पृथकत्व'-भेद, वितर्क' विशेष तर्कणा (द्वादशांगश्रुत), और 'विचार' ''वि'-विशेष रूप से, 'चार' चलना यानी अर्थ-व्यंजना (शब्द) और योग (मन-वचन-काय) में संक्रान्ति (बदलना) करना ही 'विचार' है।

(२) एकत्व-वितर्क-अविचार (अविचारी)- इसमें चित्त की स्थिति वायुरहित दीपक की लौ की भांति होती है। जब एक द्रव्य या किसी एक पर्याय का अभेद-दृष्टि से चिन्तन किया जाता है और पूर्व-श्रुत का आलम्बन लिया जाता है तथा जहां शब्द, अर्थ एवं मन, वचन और काय में से एक दूसरे में संक्रमण किया जाता है, तीन योग में से कोई भी एक ही योग ध्येय रूप में होता है। एक ही ध्येय होने के कारण अर्थ व्यंजना और योग में एकात्मकता रहती है। द्रव्य-गुण-पर्याय में मेरुवत् निश्चल अवस्थित चित्त वाले चौदह, दस और नौ पूर्वधारी क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव ही अन्तर्मुहूर्त काल तक ध्यान करते हैं। वे

असंख्यात-असंख्यात गुणश्रेणिक्रम से कर्मस्कन्धों का घात करते हुए ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मों को केवलज्ञान के प्राप्त होने के बाद अन्तर्मुहूर्त में ही युगपद् नाश करते हैं, तब जीव शुद्ध निर्मल क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। शुक्लध्यान की इस स्थिति को 'एकत्व-वितर्क-अविचार' कहा जाता है।

(३) सूक्ष्मक्रिया-अनिवृत्ति-प्रतिपाती-द्वितीय शुक्लध्यानावस्था में साधक आत्मा को, केवलज्ञान हो जाने से वह समस्त वस्तुओं के द्रव्य और पर्यायों को युगपद् जानने लग जाता है। घातिकर्म का क्षय कर देता है और अघातिकर्म शेष रहते हैं। जिनकी आयु-कर्म कम हो और शेष तीन कर्मों की स्थिति अधिक हो तो आयु सम करने के लिए उनके 'केवली-समुद्घात' होता है।

(४) समुच्छिन्न-क्रिया-अप्रतिपाती-तीसरे ध्यान के बाद चतुर्थ ध्यान प्रारम्भ होता है। इसमें योगों (मन-वचन-काय का व्यापार) का पूर्णतः उच्छेद हो जाता है। सूक्ष्मक्रिया का भी निरोध हो जाता है, उस अवस्था को 'समुच्छिन्न-क्रिया-अप्रतिपाती' कहा जाता है। इसका पतन नहीं होता, इसलिए यह अप्रतिपाती है।

ध्यान को जानने के उपाय-ध्यान को समझने के लिए निम्न बिन्दुओं पर विचार करना चाहिए-

(१) ध्यान की भावना (ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वैराग्य एवं मैत्र्यादि)।
(२) ध्यान के लिए उचित देश या स्थान।
(३) ध्यान के लिए उचित काल।
(४) ध्यान के लिए उचित आसन।
(५) ध्यान के लिए आलम्बन।
(६) ध्यान का क्रम (मनोन्निरोध या योगनिरोध)।
(७) ध्याता का विषय (ध्येय)।
(८) ध्याता कौन ?
(९) अनुप्रेक्षा।
(१०) शुद्धलेश्या।
(११) ध्यान का फल (संवर, निर्जरा)।

ध्यान के सोपान- आगम एवं ग्रन्थों के कथनानुसार ध्यान के दो सोपान माने गये हैं-(१) छद्मस्थ का ध्यान और (२) जिन का ध्यान। मन की स्थिरता छद्मस्थ का ध्यान है जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और जिन का ध्यान काय की स्थिरता है।

ध्याता-धर्म व शुक्ल ध्यानों को ध्यान करने वाले योगी ध्याता कहलाता है। शुक्लध्यान पूर्वविद् को ही होता है परन्तु धर्मध्यान पूर्वविद को भी होता है और अल्पश्रुत को भी। महापुराण के अनुसार यदि ध्यान करने वाला मुनि चौदहपूर्व का या दशपूर्व का या नौ पूर्व का जानने वाला हो तो ध्याता सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त कहलाता है। अल्पश्रुतज्ञानी अतिशय बुद्धिमान और श्रेणी से पहले धर्मध्यान धारण करने वाला उत्कृष्ट मुनि भी उत्तम ध्याता कहलाता है। द्रव्यसंग्रह के अनुसार पांच समिति और तीन गुप्ति का प्रतिपादन करने वाले सारभूत श्रुतज्ञान से भी ध्यान होता है। चारित्रसार के अनुसार प्रशस्त ध्यान का ध्याता मन, वचन, काय को वश में रखने वाला होता है। यथा-

मुमुक्षुर्जन्मनिर्विण्णः शान्तचित्तोवशी स्थिरः।
जिताः संवृतो धीरो ध्याता शास्त्रे प्रशंस्यते।।

अर्थात्-जो मुमुक्ष हो, उत्तम संहनन वाला हो, संसार से विरक्त हो, आर्त-रौद्र ध्यान से दूर, अशुभ लेश्याओं से रहित, लेश्याओं की विशुद्धता से अवलम्बित, शान्त चित्त, चित्त संवरयुक्त हो और उपसर्ग आने पर न डिगे ऐसे ध्याता की ही शास्त्रों में प्रशंसा की गई है। इसके विपरीत जो मायाचारी हो, मुनि होकर भी जो परिग्रह धारी हो, ख्यातिलाभ पूजा के व्यापार में आसक्त हो, इन्द्रियों का दास हो, विरागता को प्राप्त न हुआ हो -ऐसे ध्याता को ध्यान की प्राप्ति नहीं होती।

ध्येय-जो अशुभ तथा शुभ पदार्थों क़ा कारण हो उसे ध्येय कहते हैं। धवला के अनुसार जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदिष्ट सात तत्त्व एवं नौ पदार्थ ध्येय हैं। हमारे ध्यान करने योग्य वीतराग देव है, केवलज्ञान के द्वारा जिसने त्रिकाल-गोचर अनन्त पर्यायों से उपचित छह द्रव्यों को जान लिया है, जो अजर है, अमर है, अछेद्य है, समस्त लक्षणों से परिपूर्ण है अतएव दर्पण में संक्रान्त हुई मनुष्य की छाया के समान होकर भी समस्त मनुष्यों के प्रभाव से परे है, अव्यक्त है, अक्षय है। जिन जीवों ने अपने स्वरूप में चित्त लगाया है उनके समस्त पापों का नाश करने वाला, ऐसा जिनदेव ध्यान करने योग्य हैं, अर्हन्त भगवान ध्येय हैं। जिसने पहले उत्तम प्रकार से अभ्यास किया है वह पुरुष ही भावनाओं द्वारा ध्याता की योग्यता को प्राप्त होता है और वे भावनाएं रत्नत्रय रूप हैं।

ध्येय के भेद-शब्द, अर्थ और ज्ञान-इस तरह तीन प्रकार का ध्येय कहा जाता है। मुनि आज्ञा, अपाय, विपाक और लोक-संस्थान का आगम के अनुसार चित्त की एकाग्रता के साथ चिन्तवन करे। अध्यात्मवेत्ताओं के द्वारा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव रूप चार प्रकार का ध्येय समस्त तथा व्यक्त दोनों रूप से ध्यान के योग्य माना गया है अथवा द्रव्य और भाव के भेद से द्विविध है।[2]

समाधिस्थान-उत्तराध्ययनसूत्र में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए १० विशेष बातों का त्याग आवश्यक बतलाया गया है, जिन्हें ग्रन्थ में समाधिस्थान का नाम दिया गया है।

कयरे खलु ते थेरिहिं भगवन्तेहिं दस वम्भचेर समाहिठाणा पन्नता जे भिक्खू सोच्चा, निसम्म, संजम बहुले, संवर बहुले, समाहि बहुले गुत्ते, गुत्तिन्दिए, गुत्तबंभयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्ज। - उत्तराध्ययनसूत्र १६/२

इन दस समाधिस्थानों की गुप्तियाँ (सुरक्षिका) कहा है। चित्त को एकाग्र करने के लिए इनका विशेष महत्त्व होने के कारण इन्हें समाधिस्थान कहा गया है। ये समाधिस्थान निम्नलिखित रूप में विभाजित हैं-

१. स्त्री आदि से संकीर्ण स्थान के सेवन का त्याग
२. निर्ग्रन्थ साधु बार-बार स्त्रियों की कामजनक कथा न कहें
३. स्त्री आदि से युक्त शय्या और आराम का त्याग
४. कामराग से स्त्रियों की मनोहर तथा मनोरम इन्द्रियों का त्याग
५. स्त्रियों के श्रोत्रग्राह्य शब्दों का निषेध
६. स्त्रियों के साथ की हुई पूर्वरति और काम-क्रीड़ा का स्मरण न करें।
७. सरस आहार-पानी तथा प्रणीत रस-प्रकाम का त्याग
८. अत्यधिक भोजन का त्याग
९. शरीर की विभूषा का त्याग
१०. शब्दादि पाँचों प्रकार के कामगुणों का त्याग

ख- बौद्ध परम्परा में ध्यान

सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो चित्तं पञ्ञं च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु सो इमं विजटये जटं ति।।

चित्तेकग्गता समाधि- समाधि का अर्थ है एकाग्रता। एक आलम्बन के ऊपर मन को तथा मानसिक व्यापार का समान रूप से तथा सम्यक् रूप से लगाना 'समाधि' है।[3] समाधि के अनेक प्रभेदों का वर्णन बुद्धघोष ने किया है जिनमें से कतिपय ये हैं- (१) उपचार-समाधि-किसी वस्तु के ऊपर चित्त लगाने को, चित्त लगाने से ठीक पूर्व क्षण में विद्यमान मानसिक दशा का नाम उपचार समाधि है (२) अप्पना (अर्पणा) समाधि-वस्तु के ऊपर चित्त को स्थिर कर देना। प्रीति-सहगत, सुख सहगत तथा उपेक्षा-सहगत समाधियां। (आनन्द, सुख तथा क्षोभ से विरहित मानसिक अवस्था से युक्त समाधियां) मिलिन्दपञ्हो में योगी साधक के अर्थ में प्रयुक्त हैं। विज्ञानवाद का अपर नाम योगाचार

है। आचार्य असंग कृत 'योगाचार भूमिशास्त्र' ग्रन्थ में योग के आचरण की प्रधानता परिलक्षित होती है। भगवान बुद्ध ने कठोर तपस्या एवं अत्यधिक कामसुख सेवन को अति बतलाया था। मध्यममार्ग के रूप में उनके धर्म का मर्म समझा जा सकता है। मध्यममार्ग के रूप में प्रतिपादित आर्य अष्टांगिक मार्ग में सम्यक् समाधि वर्णित है। सम्यक्समाधि में चार ध्यानों की व्याख्या की जाती है। भगवान बुद्ध ने ज्ञान प्राप्ति के पूर्व जो साधना की थी, उसमें वर्णित है कि पहले सात ध्यान करते थे... आठवें ध्यान के बाद ही अपने को बुद्ध घोषित कर देते हैं। पालि ग्रन्थों में समथ और विपश्यना का प्रतिपादन मिलता है, जिसे आज विपश्यना ध्यान के रूप में प्रयोग कराया जाता है।

प्रारम्भिक बौद्धधर्म (हीनयान) में साधक का परमलक्ष्य अर्हत् पद की प्राप्ति एवं निर्वाण की प्राप्ति है जो चित्त के रागादि क्लेशों के दूर करने से प्राप्त होती है। इसमें साधक को ध्यान व योग से पर्याप्त सहायता मिलती है। बिना समाधि के साधक वासनामय जगत का अतिक्रमण कर रूपधातु में नहीं जा सकता।

चार ध्यानों का सम्बन्ध इसी रूप धातु से है, उसके आगे अरूप धातु है। इसमें भी चार भेद है- आकाशानंचायतन, विज्ञानानंचायतन, आकिंचन्यायतन, नैवसंज्ञानासंज्ञायतन।

अन्तिम आयतन भवाग्र है, यह इस जगत के आयतनों में अग्रगण्य श्रेष्ठ होता है। साधक स्थूल जगत से आरम्भ कर ध्यान के बल पर सूक्ष्म जगत में प्रवेश करता जाता है। उसके लिए जगत् अल्प तथा सूक्ष्म बनता जाता है, इस गति से वह एक ऐसे बिन्दु पर पहुंचता है, जहां जगत् की समाप्ति होती है, विज्ञान का ज्ञान होता है। इसी बिन्दु को 'भवाग्र' कहते हैं। इसके अभ्यन्तर उसे निर्वाण में कूदने में तनिक भी विलम्ब नहीं होता। लोक में 'भृगुपात' के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति करने की कल्पना इसी 'भवाग्र' से निर्वाण में कूदने का प्रतीकमात्र है। इस निर्वाण की प्राप्ति होते ही साधक को अर्हत् पद की उपलब्धि हो जाती है। वह कृतकृत्य बन जाता है। इस प्रकार हीनयान में समाधि निर्वाण की उपलब्धि में प्रधान कारण है।

संयुत्तनिकाय के ध्यानसंयुत्त में सैकड़ों ध्यानों का उल्लेख है। जिस पर प्रायः विद्वानों का ध्यान नहीं जाता। अट्ठकथा में इन ध्यानियों के ध्यानों को लौकिक ध्यानों के अनुरूप कहा है। कुल २२० ध्यान बतलाये गये हैं।

ध्यानियों के ५५ प्रकार से चार-चार भेद करके कुल २२० भेद हैं। ये भेद समाधि में कुशलताओं के आधार पर वर्णित किए गए हैं। एक कुशलता का दूसरी कुशलता से चार प्रकार का सम्बन्ध बतलाया गया है। इस प्रकार कुल कुशलताएं ग्यारह हैं, जिनको २२० प्रकार से वर्णित किया गया है[५]-

समाधिकुशल, समापत्तिकुशल, स्थितिकुशल, व्युत्थानकुशल, कल्पकुशल, आलम्बन कुशल, गोचरकुशल, अभिनीहार कुशल, सकच्चकारीकुशल, सातत्यकारीकुशल, सप्राप्यकारीकुशल।

महायान में चरम उद्देश्य बुद्धत्व की प्राप्ति है। साधक को जीवन का अन्तिम ध्येय बुद्ध बनाना है। अनेक जन्मों में पुण्यसंभार का संचय करता हुआ साधक ज्ञानसंभार की प्राप्ति करता है। प्रज्ञापारमिता अन्य पारमिताओं का परिणाम है। जब तक इस प्रज्ञापारमिता का उदय नहीं होता तब तक बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस पारमिता के उदय के लिए समाधि की महती उपयोगिता हैं। इस पारमिता तक पहुंचने के लिए साधक को अनेक भूमियाँ पार करना पड़ता है। ये भूमियां कहीं चौदह और कहीं दस बतलाई गई हैं। असंग ने 'महायान-सूत्रालंकार' में इनके नाम तथा स्वरूप का पूरा परिचय दिया है। दस भूमियों के नाम ये हैं:- (१) प्रमुदिता, (२) विमला, (३) प्रभाकरी, (४) अर्चिष्मती, (५) सुदुर्जया, (६) अभिमुक्ति, (७) दूरंगमा, (८) अचला (९) साधुमती (१०) धर्ममेध्या। इन भूमियों को पार करने पर ही साधक बुद्धत्व को प्राप्त करता है।

धम्मपद और सुत्तनिपात जैसे प्राचीनतम सूत्रग्रन्थों का अभिप्राय विज्ञानवाद के अध्ययन के अनन्तर अधिक स्पष्ट और विशद हो जाता है। इस पूरी दार्शनिक यात्रा का प्रारम्भ चित्त-मीमांसा से हुआ था और विज्ञानवादियों द्वारा उसका उत्कर्ष और पर्यवसान ज्ञान-मीमांसा में किया गया। स्पष्ट है कि चित्त के बिना योग सम्भव नहीं होगा और योगाचरण के बिना न तो चित्त-प्रकृति परिशुद्ध होगी और न निरावरण होकर उसमें अप्रतिहत एवं अपरिमेय शक्तियां ही उद्भूत होंगी, जिनसे सर्व का भान एवं सर्वज्ञता की प्राप्ति के द्वारा लोक परमपुरुषार्थ का लाभ कर सके। इसके लिए बोधिचित्त से समन्वित साधक सात, दस या सत्रह चित्तभूमियों से युक्त एक विशेष योग-मार्ग का अवलम्बन करता है, जिससे उसे योगाचार या योगावचर कहा गया, जिसका दर्शन विज्ञानवाद है। विज्ञानवाद का यह प्रस्थान आर्य मैत्रेयनाथ की मध्यान्तविभंग कारिकाओं से तथा आचार्य असंग के महायान सूत्रालंकार से स्पष्ट होता हैं। मैत्रेयनाथ कहते हैं, कि संस्कृत-असंस्कृत, नित्य-अनित्य सभी धर्मों का तब विनाश होगा जब ऐसी मध्यमा प्रतिपद् मानी जायेगी, जो न तो एकान्ततः शून्य हो और न अशून्य। इसके लिए शून्यता के आधार पर जगत् एवं जीव के विकल्प का अस्तित्त्व स्वीकार करना होगा। असंग कहते हैं कि किसी भी चित्र में गहराई और ऊंचाई नहीं होती, किन्तु दिखाई अवश्य देती है; यह जैसे सत्य है, वैसे ही जगत् में ग्राह्य-ग्राहक या द्वैत नहीं है, किन्तु वह दिखाई देता है। इस स्थिति में चित्त की तथता या यथार्थता को स्वीकार करना होगा और उसे आगन्तुक दोषों से विरहित कर

प्रकृति परिशुद्ध बनाना होगा। इस सारी परिस्थिति को एक शब्द में कहा जा सकता है कि यह असत्-सत् या अचित्त-चित्त का यथार्थवादी दर्शन है।

चार ध्यान

प्रांरम्भिक बौद्धधर्म के पालि ग्रन्थों में समाधि के प्रसंग में चार ध्यानों का उल्लेख प्राप्त होता है।

प्रथम ध्यान में वितर्क विचार, प्रीति, सुख तथा एकाग्रता-इन पांच चित्तवृत्तियों की प्रधानता है।

द्वितीय ध्यान में वितर्क तथा विचार का सर्वथा परित्याग कर देने पर प्रीति, सुख तथा एकाग्रता की प्रधानता रहती है।

तृतीय ध्यान में प्रीति का भाव नहीं रहता, केवल सुख तथा एकाग्रता का अनुभव करना।

चतुर्थ ध्यान-सभी तरह के सुख और दुख के प्रहाणं हो जाने से पहले ही सौमनस्य और दौर्मनस्य के अस्त हो जाने से सुख-दुःख से रहित उपेक्षा और स्मृति की परिशुद्धि वाले ध्यान को प्राप्त कर विहरना चतुर्थध्यान है। इन ध्यानों की भावना से निर्वाण की ओर बढ़ना बतलाया गया हैं पांच संयोजन रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य तथा अविद्या को जानने, क्षय करने, प्रहाण करने के लिए इन ध्यानों की भावना बतलाई गई है। ध्यानों का महत्त्व सम्बोध्यंग धर्मों की तरह प्रतिपादित किया गया है।

समाधि के विषय में चित्त का प्रथम प्रवेश वितर्क कहलाता है। तथा उस विषय में चित्त का अनुमज्जन करना 'विचार' हैं, इससे चित्त में जो आनन्द उत्पन्न होता है उसे 'प्रीति' कहते हैं। मानस आह्लाद के अनन्तर शरीर में एक प्रकार के समाधान या शान्ति का भाव उदय लेता है इसकी संज्ञा 'सुख' है। विषय में चित्त का बिल्कुल समाहित हो जाना, जिससे वह किसी अन्य विषय की ओर भटक कर न जाय 'एकाग्रता' कहलाता है। इन्हीं पांचों के उदय और ह्रास के कारण ध्यान के चार प्रभेद स्वीकृत किये गये हैं।

वितर्क तथा विचार का भेद स्पष्ट चित्त को किसी विषय में समाहित करने के समय उस विषय में चित्त का जो प्रथम प्रवेश होता है वह 'वितर्क' है। आगे बढ़ने पर उस विषय में चित्त का निमग्न होना 'विचार' शब्द के द्वारा अभिहित किया जाता है। बुद्धघोष ने इनके भेद को दो उदाहरणों के सहारे समझाया है। आकाश में उड़ने से पहले पक्षी अपने पंखों को समतोलन करता है और कई क्षणों तक अपने पंखों के सहारे आकाश में स्थिर रहता है। इसकी समता 'वितर्क' से दी गई हैं अनन्तर वह अपने पंखों को हिलाकर, उनमें गति पैदा कर आकाश में उड़ने लगता है। यह क्रिया 'विचार' का प्रतीक

है अथवा किसी गन्दे पात्र को एक हाथ से पकड़ने तथा उसे दूसरे हाथ से साफ करने की क्रियाओं में जो अन्तर है वही अन्तर वितर्क तथा विचारों में है। इसी प्रकार प्रीति तथा सुख की भावना में भी स्फुटित पार्थक्य है। चित्त-समाधान से जो मानसिक आह्लाद उत्पन्न होता है उसे 'प्रीति' कहते हैं। अनन्तर इस भाव का प्रभाव शरीर पर पड़ता है। शरीर की व्यथित दशा की बेचैनी जाती रहती है। अब पूरे शरीर के ऊपर स्थिरता तथा शान्ति के भाव का उदय होता है, इसे ही 'सुख' कहते हैं। प्रीति मानसिक आनन्द है और सुख शारीरिक समाधान या स्थिरता। इसके अनन्तर चित्त विषय के साथ अपना सामंजस्य स्थापित कर लेता है। इसे ही 'एकाग्रता' कहते हैं। इन पांचों की प्रधानता प्रथम ध्यान रहने पर प्रथम ध्यान उत्पन्न होता है। इसके स्वरूप बतलाते समय तथागत ने कहा है-जिस प्रकार नाई या उसका शिष्य कांसे के थाल में स्नानचूर्ण को डालकर थोड़ा जल से सींचे जिससे वह स्नानचूर्ण की पिण्डी तेल से अनुगत, भीतर-बाहर तेल से व्याप्त हो जाय किन्तु तेल न चुये। उसी प्रकार ध्यान में साधक अपने शरीर को विवेक से उत्पन्न प्रीतिसुख से भिगोता है, चारों ओर व्याप्त करता है, जिससे उसके शरीर का कोई भी भाग इस प्रीति सुख से अव्याप्त नहीं रहता।

द्वितीय ध्यान में वितर्क तथा विचार का अभाव रहता है। इस समय श्रद्धा की प्रबलता रहती है। प्रीति, सुख तथा एकाग्रता के भाव की प्रधानता रहती है।

इस ध्यान की उपमा उस गम्भीर तथा भीतर में पानी के स्रोत वाले जलाशय से दी गई है जिससे किसी भी दशा से पानी आने का रास्ता नहीं है, वर्षा की धारा भी उसमें नहीं गिरती है प्रत्युत् उससे भीतर की जलधारा फूटकर शीतल जल से भर देती है। इस प्रकार भीतरी प्रमाद तथा चित्त की एकाग्रता के कारण समाधिजन्य प्रीति-सुख साधक के शरीर को भीतर से ही आप्लावित कर देता है।

तृतीय ध्यान में केवल सुख और एकाग्रता की ही प्रधानता बनी रहती है। इस ध्यान में तीन मानस-वृत्तियां लक्षित होती हैं-१. उपेक्षा- न तो प्रीति से ही चित्त में कोई विक्षेप उत्पन्न होता है और न विराग से। चित्त इस तृतीय ध्यान को भावी की अपेक्षा कर समता का अनुभव करता है। २. स्मृति- उसे द्वितीय ध्यान के समय होने वाली वृत्तियों की स्मृति बनी रहती है। ३. सुखविहारी-साधक के चित्त में सुख की भावना विक्षेप नहीं उत्पन्न करती। ध्यान ने उसके शरीर में विचित्र शान्ति तथा समाधान का उदय होता है। इस ध्यान की समता के लिए पद्मसमुदाय का दृष्टान्त दिया जाता है। जिस प्रकार कमल समुदाय में कोई नीलकमल, रक्तकमल या श्वेतकमल जल में उत्पन्न होकर जल में ही बढ़े जिससे उसका समस्त शरीर शीतल जल से व्याप्त हो जाय, उसी प्रकार तृतीय ध्यान में भिक्षु का शरीर प्रीति-सुख से व्याप्त रहता है।

चतुर्थ ध्यान में शारीरिक सुख या दुःख का सर्वथा त्याग, मानसिक सुख या दुःख का प्रहाण, राग-द्वेष से विरह, उपेक्षा द्वारा स्मृति परिशुद्धि-इन चार विशेषताओं का जन्म होता है। यह ध्यान पूर्व तीन ध्यानों का परिणाम रूप है। इस ध्यान में साधक अपने शरीर को शुद्धचित्त से निर्मल बनाकर चतुर्थ ध्यान में बैठता है। जिस प्रकार उजले कपड़े से शिर तक ढांककर बैठने वाले पुरुष के शरीर का कोई भी भाग उजले कपड़े से बे-ढका नहीं रहता, उसी प्रकार साधक के शरीर का कोई भी भाग शुद्धचित्त से अव्याप्त नहीं रहता। ध्यान की यही पराकाष्ठा मानी गई है। आरूप्य कर्मस्थानों के अभ्यास से इनसे बढ़कर अन्य चार ध्यानों का जन्म होता है जिन्हें 'समापत्ति' कहते हैं।[६]

गुरु-

समाधि को सीखने के लिए योग्य गुरु (कल्याण मित्र) की खोज निकालना आवश्यक है।

पियो गुरु भवनीयो वत्ता च वचनक्खमो।
गम्भीरं च कथं कत्ता, नो चट्ठाने नियोजये।

- अंगुत्तर निकाय ८/३२, विसुद्धिमग्ग, ६६

अर्थात् जिसने स्वयं उच्चतम ध्यान का अभ्यास कर लिया हो, संसार के तत्त्वों के प्रति जिसकी आंतरिक दृष्टि जागृत हो और जिसने समस्त मलों (आस्रवों) को दूर कर अर्हत् पद को प्राप्त कर लिया हो। यदि अर्हत से मिले तो क्रम से...अनागामी, सकृदागामी, स्रोतापन्न, ध्यानाभ्यासी, पृथकजन, त्रिपिटकों के ज्ञाता, अट्ठकथा के साथ एक भी निकाय का ज्ञाता तथा चित्त को वश में रखने वाला कोई भी पुरुष (लज्जी) गुरु का आज्ञाकारी होना चाहिए। योगाभ्यास के अनुरूप विहार पसन्द कर गुरु के पास रहना चाहिए। अनुकूल समय मध्यान्ह भोजन के उपरान्त कहा गया है।

मानस प्रवृत्ति के अनुरूप कल्याणमित्र को अपने शिष्य के लिए कर्मस्थान की व्याख्या करनी चाहिए। मानस प्रवृत्तियां छः कही गई हैं- राग, द्वेष, मोह, श्रद्धा, बुद्धि और वितर्क।

साधक के भ्रमण, क्रिया और भोजन से प्रवृत्तियों का पता लगाया जा सकता है।

राग चरित के लिए-दस अशुभ तथा कायगता सति।
द्वेष चरित के लिए चार ब्रह्मविहार तथा चार वर्ण।
मोह और वितर्क के लिए आनापान सति (प्राणायाम)
श्रद्धा चरित के लिए ६ प्रकार की अनुस्मृतियां
बुद्धचरित के लिए मरणसति, उपसमानुस्मति, चतुर्धातुववट्ठान तथा पटिकूल सञ्ञा।

ध्यान के विषय-

बुद्धघोष ने ध्यान के विषय को कर्मस्थान कहा हैं ये चालीस बतलाए गए हैं। साधक को इनमें चित्त लगाना चाहिए। कल्याणमित्र का यह कर्तव्य है कि शिष्य की चित्तवृत्ति के अनुसार उचित कर्मस्थान की व्यवस्था करे-

चालीस कर्मस्थान- दस कसिण, दस असुभ (अशुभ), दस अनुस्सति (अनुस्मृति), चार ब्रह्मविहार, चार आरुप्य, एक संज्ञा, एक ववट्ठाण।

कर्मस्थान (१-१०)-

ध्यान के विषय अनन्त हो सकते हैं परन्तु विसुद्धिमग्ग में चालीस विषयों को ही अधिक उपयोगी तथा अनुरूप माना गया है। 'कसिण' शब्द संस्कृत के 'कृत्स्न' से निष्पन्न हुआ है, ये विषय समग्र चित्त को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। इनकी ओर लगने से चित्त का सम्पूर्ण अंश (कृत्स्न) विषयाकारकारिता हो जाता है। इसी हेतु इन्हें 'कसिण' संज्ञा प्राप्त है। इनकी संख्या दस है - पृथ्वी-कृत्स्न (पठवी कसिण), जल, तेज, वायु नील, लोहित, पीत, अवदात (ओदात, सफेद), आलोक तथा परिच्छिन्नाकाश। इन विषयों पर चित्त के समाधान के निमित्त अनेक उपयोगी व्यावहारिक बातों का वर्णन किया गया है।

(१) 'पठवी कसिण' के लिए मिट्टी के बने किसी पात्र को चुनना चाहिए। वह रंग-बिरंगा न होना चाहिए, नहीं तो चित्त पृथ्वी से हटकर उसके लक्षण की ओर आकृष्ट हो जाता है। एकान्त स्थान में चित्त को उस पात्र पर लगाना चाहिए। साथ ही साथ पृथ्वी तथा उसके वाचक शब्दों का धीरे-धीरे उच्चारण करते रहना चाहिए। इस प्रक्रिया के अभ्यास से नेत्र बन्द कर देने पर उसी वस्तु की मूर्ति भीतर झलकने लगती है। इसका नाम है-उग्गहनिमित्त का उदय। उस एकान्त स्थान से हटकर अपने निवास स्थान पर जा सकता है परन्तु उसे इस निमित्त पर ध्यान सतत लगाते रहना चाहिए। इससे उसके निवारण (पांचों बन्धन) तथा क्लेशों का नाश हो जाता है। समाधि के इस उद्योग (उपचारसमाधि) से चित्त एकत्र स्थित होता है और इस दिशा में वह वस्तु चित्त में पूर्व की अपेक्षा अत्यधिक स्पष्ट तथा उज्ज्वल रूप से दृष्टिगत होने लगती हैं। इस 'पटिभाग निमित्त' को जन्मना कहते हैं। चित्त ध्यान की भूमियों में धीरे-धीरे आरोहण करता है। (२) 'आपो कसिण' में समुद्र, तालाब, नदी या वर्षा का जल ध्यान का विषय होता हैं (३) 'तेजोकसिण' में दीपक की टेम (लौ) चूल्हे में चलती हुई आग या दावानल ध्यान के विषय माने जाते हैं। (४) 'वायु कसिण' में बांस के सिरे, ऊख के सिरे या बाल के सिरे को हिलाने वाली वायु पर ध्यान देना होता है। (५) 'नील कसिण' में नील पुष्पों से ढके हुए किसी पात्र-विशेष (जैसे टोकरी आदि) पर ध्यान लगाना होता है। उस टोकरी को कपड़े से इस प्रकार ढक देना

चाहिये जिससे वह ढोल की शक्ल की मालूम पड़ने लगे। उसके चारों ओर विभिन्न रंग की चीजें रख देनी चाहिए। साधक को इन नाना रंगों से चित्ती हटाकर केवल नील रंग पर ही लगाना चाहिए। यह 'नील कसिण' की प्रक्रिया हैं (६) पीत कसिण (७) लोहित कसिण तथा (८) ओदात कसिण (अवदात) में पीले, लाल तथा उजले रंग की चीजें होनी चाहिए। प्रक्रिया पूर्ववत् होती है। (६) 'आलोक कसिण' में प्रकाश के ऊपर ध्यान लगाना होता है (जैसे दीवाल के किसी छिद्र से या वृक्षों के पत्तों के छेद से होकर आने वाले चन्द्रकिरण या सूर्यकिरण)। (१०) 'परिच्छिन्नाकाश कसिण' में परिच्छिन्न आकाश (जैसे दीवाल या खिड़की का बड़ा छेद) ध्यान का विषय होता है। भिन्न-भिन्न कसिणों/विषयों पर ध्यान लगाना चाहिए। उन शब्दों का उच्चारण करते रहना चाहिए, तब उनके ऊपर चित्त समाहित होता है। 'पृथ्वी कसिण' के अनुसार प्रक्रिया सर्वत्र समझनी चाहिए।

दस असुभ- (११-२०)

अशुभ कर्मस्थान में मृतक शरीर को, ध्यान का विषय नियत किया गया है। बुद्धधर्म में मृतक शरीर के ध्यान से जगत की अनित्यता की शिक्षा लेने पर विशेष जोर दिया गया है। इस अभिराम शरीर का चरम अवसान यह कुरूप मृतक शरीर है, तब चित्त में अभिमान के लिए स्थान कहां ? सौन्दर्य की भावना से अपने चित्त को गर्वोन्नत करने की आवश्यकता ही कौन सी है ? मृतक शरीर की दस अवस्थायें हैं जिन्हें ध्येय मानने से अशुभ कर्म-स्थान दस प्रकार का होता है- (११) उद्धुमातकम्-फूला हुआ शव, (१२) विनीलकम्-जब शव का रंग नीला पड़ जाता है, (१३) विपुब्बकम्-पीब से भरा शव (१४) विच्छिद्दकम्-अंग-भंग से युक्त शव (जैसे चोरों का मृतक शरीर) (१५) विक्खायितकम्-कुत्ते या सियारों से छिन्न-भिन्न शव, (१६) विक्खित्तम्- बिखरे हुए अंग वाला शव; (१७) हतविक्खित्तम्-कुछ नष्ट और कुछ छिन्न-भिन्न अंगवाला शव, (१८) लोहितकम्-खून से इधर-उधर ढका हुआ शव (१६) पुलुवकम्-कीड़ों से भरा हुआ शव, (२०) अट्ठिकम्-शव की ठठरी।

बुद्धघोष ने शव के स्थान आदि के विषय में भी अनेक नियम बताये हैं। इन विषयों पर ध्यान देने से वह वस्तु चित्त में स्फुरित होती है। (पटिभाग) क्लेशों तथा नीवरणों का नाश होता है। चित्त समाहित होता है।

दस अनुस्मृति- (२१-३०)

कर्मस्थान वस्तुरूप है जिनकी बाह्य सत्ता विद्यमान है। अनुस्मृतियों में ध्येय विषय कल्पनामात्र है, बाह्य वस्तु रूप नहीं। वस्तु की प्रतीति या कल्पना पर चित्त लगाने से समाधि की अवस्था उत्पन्न होती है।

(२१) बुद्धानुस्सति, (२२) धम्मानुस्सति, (२३) संघानुस्सति, (२४) शीलानुस्सति, (२५) चागानुस्सति, (२६) देवतानुस्सति। इन अनुस्मृतियों में क्रमशः बुद्ध, धर्म, संघ के गुणों और शील त्याग तथा देवता (देवलोक में जन्म लेने के उपाय) की भावना पर चित्त लगाना होता है।

(२७) मरणसति- शव को देखकर मरण की भावना पर चित्त को लगाना, जिससे चित्त में जगत् की अनित्यता का भाव उत्पन्न हो जाता है।

(२८) कायगतानुसति- (कायगतानुस्मृति)- साधक को शरीर के नाना प्रकार के मल से मिश्रित अंग-प्रत्यंगों की भावना पर चित्त लगाना चाहिए। मानव शरीर क्या है? अनेक प्रकार के मल-मूत्रादि का संघातमात्र है। यही भावना इस कर्मस्थान का विषय है।

(२९) आनापानानुसति- (प्राणायाम)- इस अनुस्मृति का वर्णन दीघनिकाय में 'अनुसति' के नाम से विशेष रूप से मिलता है। एकान्त स्थान में बैठकर आश्वासन और प्रश्वासन पर ध्यान देना चाहिए। आश्वासन नाभि से आरम्भ होता है, हृदय से होकर जाता है तथा नासिकाग्र से वह बाहर निकलता है। इस प्रकार उसका आदि, मध्य तथा अन्त तीनों है। आश्वासन तथा प्रश्वासन के नियमतः करने से चित्त में शान्ति का उदय होता है। बुद्धघोष ने प्राणायाम के विषय में अनेक ज्ञातव्य विषयों का निर्देश किया है।

(३०) उपसमानुस्सति-अर्थात् उपशमरूप-निर्वाण पर ध्यान।

चार ब्रह्मविहार-

चार ब्रह्मविहार के नाम हैं मेत्ता (मैत्री), करुणा, मुदिता तथा उपेक्खा (उपेक्षा)। इनकी 'ब्रह्मविहार' संज्ञा सार्थक है, क्योंकि इन भावनाओं का फल ब्रह्मलोक में जन्म लेना तथा उस लोक की आनन्दमय वस्तुओं का उपभोग करना है। महर्षि पतञ्जलि ने इन चारों भावनाओं के अभ्यास से चित्त की एकाग्रता को उत्पन्न होना बतलाया है। इष्टजन में मैत्री, दुःखितों में करुणा, पुण्यात्मा व्यक्तियों में मुदिता तथा अपुण्यात्माओं में उपेक्षा का भाव रखना चाहिए। बुद्धधर्म में भी इन भावनाओं पर चित्त को समाहित करने का उपदेश है। (३१) मेत्ता भावना प्रथमतः अपने ही ऊपर करना चाहिए। अपने कल्याण की भावना पहले रखनी चाहिए, अनन्तर अपने गुरु तथा अन्य सम्बन्धियों की। पीछे अपने शत्रुओं के ऊपर भी मैत्री की भावना करनी चाहिए। स्व और पर का सीमाविभेद करना नितांत आवश्यक होता है। इसी तरह दुःखित व्यक्तियों पर (३२) करुणा, पुण्यात्माओं पर (३३) मुदिता तथा अपुण्यात्माओं पर (३४) उपेक्षा की भावना करनी चाहिए।

चार आरूप्य- कर्मस्थान कामधातु से रूपधातु में ले जाते हैं। उससे आगे के लोक 'अरूप लोक' में जाने के लिए ये चार आरूप्य कर्मस्थान आवश्यक हैं-

(३५) आकाशानञ्चायतन- (अनन्त आकाशायतन) कषिण में केवल परिच्छिन्न आकाश पर ध्यान देने का विधान है। इससे पञ्चम ध्यान का उदय होता है।

(३६) विज्ञानानंचायतन (=अनन्त विज्ञानायतन)- पूर्व कर्मस्थान में देश की भावना बनी रहती है। अनन्त आकाश की कल्पना के साथ कुछ न कुछ दैशिक सम्बन्ध नहीं रहता। साधक को आकाश के विज्ञान के ऊपर चित्त समाहित करना आवश्यक है। इससे षष्ठ ध्यान का उदय होता है।

(३७) अकिञ्चनायतन (=नास्ति किञ्चन+आयतन) विज्ञान को भी चित्त से दूर कर देना चाहिए केवल विज्ञान के अभाव पर ही ध्यान देना आवश्यक है, जिससे विज्ञान की शून्य भावना जागरित होती है। इससे सप्तम ध्यान का उदय होता है।

(३८) नैवसञ्ञनासञ्ञायतन (=नैव संज्ञा+न असंज्ञा+आयतन) पूर्व ध्यान में चार स्कन्धों के ज्ञान (संज्ञा) से साधक मुक्त हो जाता है, परन्तु अत्यन्त सूक्ष्म संस्कारों का ज्ञान बना रहता है। वह साधारण वस्तुओं को नहीं जान सकता, किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञान से विरहित नहीं होता। अभाव से भी बढ़कर बलवती कल्पना 'संज्ञा' है। अकिञ्चनायतन को अतिक्रमण कर साधक अरूप्य कर्मस्थानों में अन्तिम कर्मस्थान को प्राप्त करता है।

उस आयतन के स्वरूप को बुद्धघोष ने दो उपमाओं के सहारे बड़ी सुन्दरता से दिखलाया है। किसी सामणेर ने एक बर्तन को तेल से चुपड़ रखा था। पीने के समय स्थविर (गुरु) ने उस बर्तन को मांगा। सामणेर ने कहा-भन्ते, बर्तन में तेल है, गुरु ने कहा- तेल लाओ, उसे मैं बांस की बनी नली में उड़ेल दूंगा। शिष्य ने कहा-इतना तेल नहीं है कि बांस की नली में उड़ेल कर रखा जाय। तेल यवागू को दूषित करने में समर्थ है, अतः उसकी सत्ता है, परन्तु नली के भरने में असमर्थ होने से वह नहीं है। इसी प्रकार संज्ञा सूक्ष्मरूप से, संस्कार रूप से विद्यमान है, अतः वह 'असंज्ञा' भी नहीं। दूसरी उपमा है कि कोई गुरु कहीं जा रहे थे। शिष्य ने कहा-रास्ते में थोड़ा जल दिखाई दे रहा है। जूता निकाल लीजिये। गुरु ने कहा-यदि जल है तो मेरी धोती (स्नानशाटिका) निकाल, स्नान कर लूं। शिष्य ने कहा-भन्ते, नहाने के लिए नहीं है। यहां जल जूते को भिगा देने मात्र के लिए हैं परन्तु स्नानकार्य के लिए जल नहीं। इसी तरह संज्ञा संज्ञाकार्य में असमर्थ है, परन्तु संस्कार के शेष होने से वह सूक्ष्मरूप से वर्तमान है, अतः वह 'असंज्ञा' नहीं हैं इस विचित्र नामकरण का यही रहस्य है।

अन्तिम दो कर्मस्थान है-(१) आहारे पटिकूल-संज्ञा, (२) चतुर्धातु व्यवस्थान भावना।

(३९) संज्ञा- आहारे प्रतिकूलसंज्ञा अर्थात् भोजन से घृणा। भोजन से सम्बद्ध बुराइयों पर ध्यान देना चाहिए। भोजन के लिए दूर-दूर जाना, भोजन के न पचने से अनेक

बुराइयां आदि बातों पर ध्यान देने से साधक का चित्त प्रथमतः भोजन की तृष्णा से निवृत्त होता है और पीछे सब प्रकार की तृष्णा से।

(४०) व्यवस्थान-चतुर्धातुव्यवस्थान भावना अर्थात् शरीर के चारों धातुओं का निश्चय करना। शरीर चारों महाभूतों से बना हुआ है। इन भूतों के स्वरूप पर विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होने लगता है। यह नाना कामनाओं का केन्द्रभूत सुन्दर शरीर अचेतन (भौतिक), अव्याकृत (अवर्णनीय), शून्य (स्वरूपहीन), तथा निःसत्त (सत्ताहीन) है। 'सर्व शून्यम्' की उत्कट भावना के लिए इस व्यवस्थान का नितान्त उपयोग है, यह शरीर शून्य है तथा तत्समान जगत् के समस्त पदार्थ भी शून्य हैं।[८]

योग की बाधाए (पलि बोध)

योग में अन्तराय=बाधा को पलिबोध कहा गया है। पलिबोध-जो बोध के प्रतिबंधक होने से संस्कृत परिबोध का पाली रूप हो सकता है।[९]
बुद्धघोष ने अन्तरायों का निर्देश इस प्रकार किया है-

आवासो च कुलं लाभो गणो कम्मं च पंचम।
अद्धानं जाति आबाधो गन्धो इद्धीति ते दसा ति।।

(१) आवास-मठ या मकान बनवाना। जो भिक्षु मठ के बनवाने में व्यस्त रहता है, उसका चित्त समाधि पर नहीं जाता।

(२) कुल-अपने शिष्य के सम्बन्धियों के ऊपर विचार करने से मन इधर-उधर व्यस्त रहता है। समाधि के लिए अवसर नहीं मिलता।

(३) लाभ-धन या वस्त्र की प्राप्ति। धन या वस्त्र के लोभ ने अनेक भिक्षुओं के चित्त को संसार का रसिक बना दिया है।

(४) गण- अनेक भिक्षुओं को सुत्त या अभिधम्म को अपने शिष्यों को पढ़ाने से ही अवकाश नहीं मिलता कि वे अपना समय समाधि में लगावें।

(५) कम्म-मकानों का बनवाना या मरम्मत कराना। इनमें व्यस्त रहने से भिक्षु को, मजदूरों को, हाजिरी तथा मजदूरी रोज-रोज जोड़ने से समाधि के लिए फुरसत नहीं मिलती।

(६) अद्धानं-रास्ता चलना। कभी-कभी भिक्षु को उपसम्पदा देने या किसी आवश्यक वस्तु के लेने के लिए दूर तक जाना पड़ता है। रास्ता चलना समाधि के लिए विघ्न हैं।

(७) ज्ञाति-ज्ञाति, समाधि या गुरु अथवा अपना चेला, जिसकी बीमारी चित्त की ओर से योग से भी हटाती है।

(८) आबाध-अपनी बीमारी, जिसके लिए दवा लाना, तैयार करना तथा खाना पड़ता है।

(९) गन्ध- (ग्रन्थि का अभ्यास) बौद्ध ग्रन्थों के पढ़ने से कितने ही भिक्षु इतने व्यस्त रहते हैं कि उन्हें योग करने के लिए अवकाश नहीं मिलता। ग्रन्थ का अभ्यास बुरा नहीं है परन्तु उसे समाधि का साधक होना चाहिए। बाधक होते ही वह अन्तराय बन जाता है।

(१०) इद्धि- अलौकिक शक्तियां तथा सिद्धियां। समाधिमार्ग पर अग्रसर होने से साधक को अनेक सिद्धियां स्वतः प्राप्त होती हैं। ये भी विघ्नरूप हैं, क्योंकि इनके आकर्षण में कतिपय साधकों का मन इतना अधिक लगता है कि वे विपश्यना (ज्ञान) की प्राप्ति की उपेक्षा कर बैठते हैं। पृथगूजनों को दृष्टियों में सिद्धियां भले ही लोभनीय प्रतीत होती हों परन्तु आर्यजन की दृष्टि में वे नितान्त व्याघातक हैं अतएव हेय हैं। इनके अतिरिक्त शारीरिक शुद्धि, पात्र, चीवर का साफ रखना आवश्यक है। इनके स्वच्छ न रहने से चित्त कलुषित रहता है और समाधि में नहीं लगता। विसुद्धिमग्ग में इनका विस्तार से निरूपण किया गया है।

उपसंहार

दोनों परम्पराओं में ध्यान, योग एवं समाधि में बहुत भेद नहीं किया जा सकता।

बौद्ध परम्परा में ध्यान एवं समाधि शब्द का अधिक प्रयोग है। चार आर्यसत्यों के आर्य अष्टांगिक मार्ग में सम्यक्समाधि है। सैंतीस बोधिपाक्षिक धर्मों में चार ध्यान हैं। सम्यक् समाधि की व्याख्या करते समय चार ध्यानों का ही विस्तार से प्रतिपादन किया जाता है। चार अरूप समापत्तियों का भी बार-बार निरूपण है।

बौद्धपरम्परा में योग का विकास वज्रयान में देखा जा सकता हैं जहां पर प्रज्ञा एवं उपाय के योग की बात कही जाती है। समाधि कुण्डलिनी जागरण के नाम पर पंच मकार आदि का सेवन एवं अतिरेकता वज्रयान एवं तन्त्रयान में प्रचलित हुई। जैन परम्परा में ऐसा कभी नहीं हुआ अपितु योग के इस विकराल रूप को देखकर जैन परम्परा में योग की उपेक्षा की गई हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

जैन ग्रन्थों में ध्यान का महत्त्व बतलाया गया है कि जो जिस कर्म का स्वामी अथवा जिस कर्म के करने में समर्थ देव है, उसके ध्यान से व्याप्त चित्त हुआ ध्याता उस देवता रूप होकर अपना वांछित अर्थ सिद्ध करता है।

यो यत्कर्मप्रभुर्देवस्तद्ध्यानाविष्टमानसः।
ध्याता तदात्मको भूत्वा साधयत्यात्म वाञ्छितम्।। -तत्त्वानुशासन २००

योगी शान्तात्मा होकर शान्तिकर्मों को और क्रूरात्मा होकर क्रूरकर्मों को करता है-आकर्षण, वशीकरण, स्तम्भन, मोहन, उच्चाटन आदि अनेक प्रकार के चित्र-विचित्र कार्य कर सकता है।[१०]

ज्ञानी मुनियों ने विद्यानुवाद पूर्व से असंख्यभेद वाले अनेक प्रकार के विद्वेषण उच्चाटन आदि कर्म कौतूहल के लिए प्रकट किए हैं, परन्तु वे सब कुमार्ग व कुध्यान के अन्तर्गत हैं।[११]

वध बन्धच्छेदादे-द्वेषाद्रांगाच्च परकलत्रादेः।
आध्यानमपध्यानं, शासति जिनशासने विशदाः।।

- रत्नकरण्ड श्रावकाचार-७८

जिनशासन में प्रवीण जन द्वेष से और राग से अन्य की स्त्री के नाश होने, बंध पाने, कट जाने आदि के चिन्तवन को अपध्यान नामक अनर्थदण्ड कहते हैं।

ऐहिक फल को चाहने वालों के लिए जो ध्यान होता है, वह या तो आर्तध्यान है या रौद्रध्यान है जो संसार को बढ़ाने वाले खोटे कहे गए हैं।[१२] धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान मुनियों को ग्रहण करने योग्य हैं। ध्यानों का माहात्म्य प्रतिपादन करने के लिए ध्यान के ऐहिक फल बतलाए गए हैं।

जिसप्रकार पाषाण में स्वर्ग और काष्ठ में अग्नि बिना प्रयोग के दिखाई नहीं देती, उसी प्रकार ध्यान के बिना आत्मा दिखाई नहीं देता।

स्वभाव से अनन्त और जगत्प्रसिद्ध प्रभाव का धारक यह आत्मा यदि समाधि में जुड़ जाय तो समस्त जगत को अपने चरणों में लीन कर लेता है।

मिलिन्दपञ्हो में समाधि का लक्षण 'पमुखलक्खणो' किया है।

ये केचि कुसला धम्मा सब्बे ते समाधि पमुखा होन्ति। समाधिनिन्ना, समाधिपब्भारा ति। यथा कूटागारस्स या काचि गोपानसियो सब्बा ता कूटंगमा होति।

जैसे सेना का प्रमुख राजा होता है।[१३]

जैन ग्रन्थ योगबिन्दु में भी योग को सब धर्मों में मुख्य कहा है तथा सिद्धि का अनन्य हेतु।[१४]

जैनदर्शन में कहा- 'खणं जाणदि पंडिए' अर्थात् साधक क्षण को जानो, वर्तमान को जानना ? वर्तमान में जीना ही भाव क्रिया है, यांत्रिक जीवन जीना, काल्पनिक जीवन जीना द्रव्य क्रिया है। यह चित्त का विक्षेप है और साधना की विधा है। भावक्रिया स्वयं साधना और ध्यान है।

तत्त्वार्थसूत्र में मन, वचन, काय सम्बन्धी कर्म 'योग' कहा है-

'कायावाङ्मनः कर्मयोगः' (तत्त्वार्थसूत्र ६/१)

नियम सीमित समय के लिए एवं यम जीवन पर्यन्त धारण किया जाता है।

नियमः परिमितकालो, यावज्जीवं यमो ध्रियते। -रत्नकरण्डश्रावकाचार ४/८७

अभिधानचिन्तामणि में कहा गया है कि योग ज्ञान, दर्शन चारित्रमय है तथा मोक्ष का उपाय है।

मोक्षोपायो योगो ज्ञान श्रद्धान चरणात्मकः। १/६६)

हेमचन्द्राचार्य योगशास्त्र में कहते हैं कि योग समस्त विपत्तिरूपी लताओं के वितान को काटने के लिए तीखी धार वाले परशु के समान है।

आचार्य यशोविजयगणि जी- अध्यात्मसार में कहते हैं कि न द्राक्षा में वह रस है, न शक्कर में, न अमृत में और न ही कामिनी के अधरबिम्ब में वह रस है, जो रस ध्यान से उत्पन्न धैर्य में प्रकट होता है। उस अलौकिक रस को मनस्वी पुरुष ही जानता है।

गोस्तनीषु न सितासु सुधायां नाऽपि नाऽपि वनितारबिम्बे।
तं रसं कमपि वेत्ति मनस्वी ध्यानसम्भवधृतौ प्रथते यः।।

बौद्धदर्शन में सुखी जीवन का आधार वर्तमान में जीवनयापन है।

अतीते नानु सोचन्ति नानु जप्पन्ति नागतं।
पच्चुप्पन्नेन यापेन्ति तेन वण्णो पसीदति।। - संयुत्तनिकाय

निगण्ठनाटपुत्तसुत्त में बतलाया गया है कि भगवान् गौतम बुद्ध का उपासक चित्रगृहपति निगण्ठनाटपुत्त के पास जाता है। निगण्ठनाटपुत्त गृहपति से भगवान् बुद्ध की अवितर्क अविचार पूर्ण समाधि के सम्बन्ध में पूछता है। पहले जब चित्र गृहपति कहता है कि श्रद्धा से मैं ऐसा नहीं मानता कि गौतम बुद्ध को समाधि लगी है तो निगण्ठनाटपुत्त चित्र गृहपति की प्रशंसा करते हैं, तुरन्त ही चित्र गृहपति श्रद्धा से ज्ञान को बड़ा कहता है कि जब वह (ज्ञान के आधार पर) चाहता है स्वयं भी अवितर्क पूर्ण समाधि को प्राप्त हो विहार करता है।

तीर्थंकरों एवं बुद्धों के आसन-वज्रासन आदि पर विशाल साहित्य लिखा जा सकता है। वर्तमान में प्रचलित योगासनों में इनके सन्दर्भ भी दिए जाते हैं। जैन दर्शन में आत्मा की प्रधानता है। बौद्धदर्शन अनात्मवादी है। वहाँ पर मन की प्रधानता बतलाई गई है।

संदर्भ-संकेत

१. जैनयोग, युवाचार्य महाप्रज्ञ जी
२. ध्याता, ध्येय-ध्यान, लेख डॉ. राका जैन
३. विसुद्धिमग्ग, भाग १, पृ. ८२
४. अभिधर्मकोश, ३/६
५. संयुत्तनिकाय पालि एक अध्ययन, पृ. ६७
६. प्रारम्भिक बौद्धधर्मदर्शन, पृ. ३०
७. विसुद्धिमग्ग, पृ. ६७-६८
८. बौद्धदर्शन मीमांसा, बल्देव उपाध्याय
९. वही, पृ. २९८
१०. तत्त्वानुशासन, २११-२१६
११. ज्ञानार्णव, ४०/४
१२. वही, ८०/४
१३. मिलिन्दपञ्हो, २/१४
१४. योगबिन्दु, ३७

आधार ग्रन्थ

(१) जैन योग, युवाचार्य महाप्रज्ञ, प्रकाशक-जैन आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चुरू (राजस्थान) द्वितीय संस्करण, १९८०
(२) योगबिन्दु के परिप्रेक्ष्य में जैन योग साधना का समीक्षात्मक अध्ययन, डॉ. सुव्रतमुनि शास्त्री, प्रकाशक-श्री आत्मज्ञान पीठ, मानसा मण्डी, भटिण्डा (पंजाब); १९९१
(३) विसुद्धिमग्गो, आचार्य बुद्धघोष
(४) मिलिन्दपञ्हो, (पालि अनुपिटक साहित्य)
(५) तत्त्वार्थ सूत्र, आचार्य उमास्वामी
(६) ध्याता, ध्येय, ध्यान-लेख डॉ. राका जैन अनेकान्त (५६/३४) वीर सेवा मंदिर दिल्ली
(७) बौद्धदर्शन मीमांसा-आचार्य बल्देव उपाध्याय, चौखम्बा विद्या प्रकाशन, वाराणसी
(८) संयुत्तनिकायपालि एक अध्ययन-डॉ. विजयकुमार जैन, मैत्री प्रकाशन, गोमतीनगर, लखनऊ, २००४
(९) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-२, जिनेन्द्रवर्णी भारतीय ज्ञानपीठ, प्रकाशन।



जैन एवं बौद्ध परम्परा में समाधिमरण

भारतीय दर्शन परम्परा जन्म एवं मृत्यु को परम सत्य मानती है। जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु भी अवश्य होती है। अतः मृत्यु से घबड़ाना क्यों ? इसके लिए अगले जन्म की तैयारी या स्वागत के लिए पाथेय=पुण्य-पाप का विस्तार से चित्रण मिलता है। जैन दर्शन परम्परा का यह वैशिष्ट्य है कि यहाँ पर मृत्यु का भी स्वागत किया गया है। यह विशिष्ट शब्द है समाधिपूर्वक मरण जिसे सल्लेखना भी कहते हैं। इस शब्द एवं परम्परा को न समझने के कारण कई भ्रांतियां फैलती रही हैं। कोई इसे आत्महत्या के रूप में, कोई इच्छामृत्यु के रूप में देखता है वस्तुतः यह विशिष्ट शब्द है, जो अपनी विशिष्ट परम्परा को संजोए हुए है। बौद्ध परम्परा में सल्लेखना जैसा पारिभाषिक शब्द न होते हुए भी उसके विभिन्न सन्दर्भों के आधार पर समाधिमरण की पवित्रता परिलक्षित होती है।

यहाँ विषय प्रतिपादन के लिए तीन भाग किए गए हैं-

(क) जैन परम्परा में समाधिमरण एवं सल्लेखना

(ख) बौद्ध परम्परा में समाधिमरण

(ग) तुलनात्मक अध्ययन

(क) जैन परम्परा में समाधिमरण एवं सल्लेखना

जैन परम्परा में व्रती मरण के समय होने वाली सल्लेखना को प्रीतिपूर्वक सेवन करता है या सल्लेखना पूर्वक समाधिमरण के लिए जीवन भर व्रतों का पालन करता है। सल्लेखना में शरीर और कषाय को कृश किया जाता है। शरीर की कृषता के साथ कषाय की कृषता अनिवार्य है। अज्ञानी शरीर द्वारा जीव का त्याग करता है और ज्ञानी जीव द्वारा शरीर का त्याग करता है। शरीर अपवित्र और नाशवान है किन्तु वह तप का साधन होने से भव समुद्र को पार करने के लिए नौका के समान है। इसके माध्यम से तप धारण कर कर्मों का संवर और निर्जरा कर मोक्ष प्राप्त किया जाता है। यदि यह शरीर संयम, तप आदि की विराधना में कारण बनने लगे तो धर्म के लिए शरीर का त्याग कर देना चाहिए, जिससे प्राप्त किया गया धर्म छूटने न पाए। अतः शरीर का अन्त जान लेने पर, शरीर से धर्म साधना में बाधा आने पर सल्लेखना का प्रावधान किया गया है।

प्रतिकार रहित उपसर्ग, दुष्काल, बुढ़ापा और रोग के उपस्थित हो जाने पर धर्म के लिए शरीर छोड़ने को गणधरदेव सल्लेखना कहते हैं। भगवती आराधना नामक ग्रन्थ में वर्णित है कि मरते समय की आराधना ही यथार्थ आराधना है, उसी के लिए जीवन भर आराधना की जाती है, अतः जो मरते समय आराधक होता है उसी के सम्यग्दर्शन,

सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप की साधना को आराधना कहा है तथा पाँच प्रकार के मरणों का विस्तार किया गया है। जिनागम में तो मरण के १७ प्रकार बतलाए गए हैं। पाँच प्रकार के मरण हैं- पण्डित पण्डित मरण, पण्डित मरण, बाल पण्डित मरण, बाल मरण और बाल-बाल मरण। पुनश्च पण्डित मरण के तीन भेद बतलाए गए हैं- भक्त-प्रतिज्ञा, प्रयोपगमन और इंगिनी। शरीर के रिष्टों से स्थिति समझकर सल्लेखना की जाती है। काल की अपेक्षा उत्कृष्ट बारह वर्ष, मध्यमकाल-असंख्यात वर्ष जघन्यकाल-अन्तर्मुहूर्त है।

उत्कृष्ट बारह वर्ष की सल्लेखना में आहारादि के त्याग का क्रम इस प्रकार है- चार वर्ष रस रहित भोजन से शरीर को कृश करना, दो वर्ष अल्पाहार तथा नीरस भोजन, एक वर्ष अल्पाहार मात्र, इसके बाद छह महीने अनुकृष्ट तप, अन्तिम छह महीने उत्कृष्ट तप कर बारह वर्ष पूर्ण करना चाहिए। निर्दोष और निर्विघ्न समाधि के लिए उत्कृष्ट ४८ परिचारक मुनियों का विधान हैं मध्यम परिचर्या में चार-चार साधुओं की कम संख्या की बात कही गई है। अंत्यन्त निकृष्ट में भी दो मुनिराज निर्यापक, निर्यापक परिचारक होते हैं। निर्यापकाचार्य के अष्ट गुण कहे गए हैं- आचारवान, आधारवान, व्यवहारवान-प्रकारक, आयापाय दृग, उत्पीड़क और परास्रवी।

अपने आयुष्य को शीघ्र क्षीण होता जानकर शीघ्र ही मन में अर्हत व सिद्ध परमेष्ठी को धारणकर अपने दोषों की आलोचना कर शल्य रहित, ममत्वरहित होकर मोक्ष प्राप्ति के लिए दो प्रकार के सन्यास का निर्देश है। पहले में धारण किया जाता है कि इस देश में इतने काल तक यदि मेरे प्राण निकल जाये तो चारों प्रकार के आहार का त्याग है। दूसरे में धारणा की जाती है कि यदि मैं धर्म और चरित्र की सिद्धि के लिए घोर उपद्रव से कदाचित बच जाऊंगा तो इतने काल के बाद पारणा करूंगा। सहसा मरणकाल आने पर अपने मन को विशुद्ध बनाता हुआ आहारादिक का त्याग स्वयं भी किया जा सकता है। मरणकाल में भावों की विशुद्धि का विशेष महत्त्व होता है। श्रावक को मरणकाल में महाव्रत ग्रहण कर लेना चाहिए, जिससे परिणाम विशुद्ध बनते हैं इसका क्रम वर्णित है कि-

वस्त्र मात्र परिग्रह को रखकर और अवशिष्ट समस्त परिग्रह को छोड़कर अपने ही घर में अथवा जिनालय में रहकर गुरु के पास में मन, वचन और काय से अपनी भलीप्रकार आलोचना करता है और पानी के सिवाय तीन प्रकार के आहार का त्याग करता है। श्रावक अन्त में स्नेह, वैर और परिग्रह को छोड़कर शुद्ध होता हुआ, प्रिय वचनों से अपने कुटुम्बियों और नौकरों से क्षमा कराते हुए स्वयं भी क्षमा करता है। समस्त पापों की आलोचना करते हुए मरण पर्यन्त महाव्रतों को धारण करता है। यदि दीक्षा ग्रहण नहीं कर सकता तो संस्तर मरण होना चाहिए। यदि यह भी संभव न हो तो सल्लेखना का

अनुष्ठान करते हुए क्रम से आहार आदि का त्याग करना चाहिए। धनवान और धन रहित श्रावकों का भी अन्त समय मार्ग प्रशस्त किया गया है।

सल्लेखना विधि करने वाले निर्यापकाचार्य क्षपक की शक्ति को देखकर क्रम से आहार का त्याग कराते है। प्रथम कवलाहार का त्याग कराकर स्निग्ध पेय दूध आदि दिया जाता है। इसके बाद छाछ, फिर गर्म जल दिया जाता है। शक्ति के अनुसार उपवास करते हुए पंच परमेष्ठी का स्मरण कर शरीर का त्याग किया जाता है। इसमें सल्लेखना कराने वाले आचार्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, यह मन विचलित न हो इसके लिए सम्बोधन द्वारा क्षपक के विचारों में स्थिरता प्रदान करता है।

(ख) बौद्ध परम्परा में समाधिमरण

बौद्ध परम्परा में अनित्य, दुःख एवं अनात्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। संसार को असारवान एवं दुःख रूप मानने के कारण बहुत से भिक्षु निर्वेद को प्राप्त कर समाधि में ध्यान लगाते हुए असमय में ही मृत्यु का आलिंगन करते हुए पाते है, जिसके लिए भर्त्सना की गई है। समय की प्रतीक्षा करने को कहा गया है, जबकि प्रवज्या के सन्दर्भ में कोई अकाल नहीं माना है। कहा गया है कि -काल अज्ञात है, इसका पता नहीं इसलिए बिना भोग किए भिक्षु अपना समय खराब नहीं कर रहे हैं। एक देवता जब भिक्षु से कहता है कि बड़ी छोटी अवस्था में प्रवज्या ले ली है। सामने की बात को छोड़कर मुद्दत में होने वाली बात के पीछे पड़े हैं।

इस सन्दर्भ में भगवान कहते हैं कि-

सभी जीव कहे जाने वाले संज्ञा भर के हैं
उनकी स्थिति कहे जाने भर में हैं,
इस बात को बिना समझे,
लोग मृत्यु के अधीन हो जाते हैं।
जो संज्ञा मात्र को समझता है वह
क्षीणास्रवी भिक्षु मिथ्यादृष्टि में नहीं पड़ता।[1]

संसार के सन्दर्भ में वर्णित है कि

घर में आग लग जाने पर,
जो असबाब बाहर निकाल लेता है,
वह उसकी भलाई के लिए होता है।
उसी प्रकार, इस सारे लोक में आग लगी है

जरा की आग और मर जाने की आग,
दान देकर बाहर निकाल लो
दान दिया गया अच्छी तरह रक्षित होता है।
आखिर में सब ही छूट जाता है
यह शरीर भी और सारी सम्पत्ति भी
इसे जान बूझ कर पण्डित पुरुष
भोग भी करते हैं और दान भी करते हैं।[२]
क्षीणास्रवी चतुर और ध्यानी भिक्षु
जन्म और मृत्यु के अन्त को पाकर
वह कोशिश नहीं करता, वह तो पार हो चुका।[३]

भगवान बुद्ध कहते हैं कि-

मेरी शिक्षाओं का जो ध्यानी पालन करते हैं,
यथोचित काल में प्रमाद नहीं करते
वे मृत्यु के वश में जाने वाले नहीं होते।[४]

– संसार में स्वाद नहीं लेता, तथा बने रहने की जिसे इच्छा नहीं रही, वह गहरे जल में नहीं डूबता।[५]

कहीं-कहीं मृत्यु से भयभीत होकर पुण्य करने की सलाह दी गई है। जीवन बीत रहा है, बुढ़ापा से बचने का कोई उपाय नहीं है, मृत्यु में भय देखते हुए सांसारिक भोग छोड़कर निर्वाण की खोज कर।[६]

सारिपुत्त का ध्यान पूर्वक अल्पायु में निधन हो गया था जिसके सन्दर्भ में भगवान कहते हैं कि-

सारिपुत्त की तरह प्रज्ञा से,
शील से और चित्त की शांति से,
जो भिक्षु पार चला जाता है
वही परम पद पाता है।[७]

सारिपुत्त के लिए भगवान् कहते हैं कि

पण्डित और बड़ा दानी, क्रोध रहित सारिपुत्र,
अल्पेच्छ, सुरत, दान्त अपनी मजदूरी की राह देख रहा है।[८]

राजा प्रसेनजित की दादी के मर जाने पर राजा भगवान बुद्ध से कहते हैं कि वह दादी के बदले में सब कुछ दे सकता है यदि दादी न मरे, जिसके उत्तर में भगवान कहते हैं कि-

सभी जीव मरेंगे, मृत्यु में ही जीवन का अन्त होता है,
अपना कमाया पुण्य ही प्राणियों के लिए परलोक में आधार होता है।[९]

गोधिक भिक्षु का प्रसंग

गोधिक नामक भिक्षु ऋषिगिरि के काल शिला पर विहार करते थे। उन्होंने अप्रमत्त और आतापी होकर समाधि से होने वाली चित्तविमुक्ति को प्राप्त किया, फिर उनकी चित्त विमुक्ति टूट गई इसी प्रकार छः बार चित्तविमुक्ति टूटने पर अपने प्राण त्याग दिए। मार भगवान के पास जाकर कहता है कि-

हे महावीर ! हे महाप्रज्ञ ! जो अपनी प्रज्ञा से दीप्त हो रहे हैं सभी वैर और भय से मुक्त ! सर्वज्ञ ! मैं पैरों पर प्रणाम करता हूँ। हे महावीर ! आपका श्रावक मरने की इच्छा और विचार कर रहा है, हे मृत्युञ्जय ! हे तेजस्वी ! उसे रोकें। तब तक गोधिक भिक्षु ने अपने प्राण त्याग दिए थे।

भगवान ने कहा-

धीर पुरुष ऐसे ही करते हैं, जीवन में उनकी आशा नहीं रहती,
तृष्णा को जड़ से उखाड़, गोधिक ने निर्वाण पा लिया।

भगवान कुछ भिक्षुओं के साथ जहाँ गोधिक कुलपुत्र थे वहाँ गए। भगवान ने दूर से ही आयुष्मान गोधिक को खाट पर कंधा झुकाए सोये देखा। चारों तरफ धुआँ सा उड़ा जाता था। भगवान् ने उसके सन्दर्भ में कहा-

वह धीर, धृतिसम्पन्न, ध्यानी, सदा ध्यानरत,
दिन रात लगे रह, जीवन की इच्छा न करते हुए
मृत्यु की सेना को जीत, पुनर्जन्म न ग्रहण कर
तृष्णा को जड़ से उखाड़, गोधिक ने परिनिर्वाण पा लिया।
मार जिसे आत्महत्या कह रहा था, दुःखी होकर चला गया।[१०]

पातिमोक्ख जो भिक्षु एवं भिक्षुणियों की आचारसंहिता है, में वर्णित है कि आत्महत्या के लिए प्रेरित करना पाराजिक नाम का अपराध है।

पाश्चात्य विद्वान् बौद्ध सन्दर्भों के आधार पर आश्चर्यचकित हैं कि कभी तो भगवान आत्महत्या को गर्हित कहते हैं तथा कभी प्रशंसा।[११] वस्तुतः समाधिमरण जैसी सूक्ष्म

विचारधारा को न समझ पाने के कारण यह विसंवाद खड़ा होता है। सामान्यतया भगवान ने स्पष्ट कहा था कि समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए क्योंकि कई भिक्षु संसार से अनासक्त होकर अपना जीवन समाप्त कर लेते थे। वहीं ध्यानपूर्वक जो भिक्षु अपना जीवन छोड़ते हैं उनकी प्रशंसा की गई है।

एक बार भगवान को कड़ी बीमारी हुई। भारी मरणान्तक पीड़ा होने लगी। भगवान ने स्मृति संप्रजन्य के साथ बिना दुःख करते, स्वीकार किया। उस समय भगवान को ऐसा हुआ कि मेरे लिए यह उचित नहीं कि मैं उपस्थापकों को बिना बतलाए, भिक्षुसंघ को बिना अवलोकन किए परिनिर्वाण को प्राप्त करूं। आबाध को हटाकर, प्राणशक्ति को दृढ़तापूर्वक धारण करने के दृढ़ निश्चय के साथ विहार करने लगे एवं उनकी बीमारी शांत हो गई। आनन्द ने सन्तोष व्यक्त किया एवं कहा कि उन्हें आश्वासन था कि जब तक भगवान संघ को नहीं कहेंगे, परिनिर्वाण को प्राप्त नहीं करेंगे। उत्तर में भगवान ने कहा धर्म में उनकी कोई आचार्यमुष्टि नहीं है। मैं जीर्ण वृद्ध महल्लक अध्वगत वयप्राप्त हूँ। अस्सी वर्ष की मेरी उम्र है। जैसे पुरानी गाड़ी बाध बाधकर चलती है, मानो तथागत का शरीर चल रहा है जिस समय तथागत सारे निमित्तों को मन में न करने से, वेदनाओं के निरुद्ध होने से निमित्तरहित चित्त की समाधि को प्राप्त होकर विहरते हैं, उस समय उनका शरीर अच्छा होता है। इसलिए आत्मदीप=आत्मशरण=अनन्यशरण होकर विहार करो।

वैशाली में विहरते हुए भगवान ने कहा, हे आनन्द ! जिसने चार ऋद्धि पाद साधे हैं, बढ़ा लिए हैं रास्ता कर लिए हैं, क्षय कर लिए हैं, अनुत्थित, परिचित और सुसमारब्ध कर लिए हैं यदि वह चाहे तो कल्प भर ठहर सकता है। तीन बार भगवान के इस प्रकार कहे जाने पर आनन्द ने ठहरने की प्रार्थना नहीं की, क्योंकि मार ने उसका मन फेर दिया था। मार भगवान से भी जाकर कहता है कि भगवान के परिनिर्वाण का काल है। पहले आपने कहा था कि आपके भिक्षु अपरिपक्व थे, अब कुशल हो गए हैं। भगवान ने कहा-बेफिक्र होकर शीघ्र ही तथागत परिनिर्वाण को प्राप्त करेंगे। आज से तीन मास पश्चात् परिनिर्वाण को प्राप्त होंगे।

भगवान का परिनिर्वाण

भगवान बुद्ध ने मार द्वारा प्रेरित किए जाने पर चापाल चैत्य में स्मृति सम्प्रजन्य के साथ आयुसंस्कार को छोड़ दिया। जिस समय भगवान ने आयुसंस्कार को छोड़ा, उस समय भीषण रोमांचकारी महान् भूचाल हुआ। आनन्द के निवेदन करने पर कि तथागत और जीवित रहें। भगवान् ने कहा कि वे वमन किए को निगलेंगे क्या ? सभी प्रियजनों से जुदाई होती है, जो उत्पन्न है, वह नष्ट होता है।

मेरी आयु परिपक्व हो गई मेरा जीवन थोड़ा है।

तुम्हें छोड़कर जाऊँगा, मैंने अपने करने लायक कर लिया।

भिक्षुओं ! निरालस, सावधान सुशील होओ। इसके बाद उन्होंने कुशीनारा की ओर प्रयाण किया। कुशीनारा के शालवन में दो शालों के बीच में उत्तर की ओर सिरहाना कर चारपाई में सिंह शय्या से लेटे। पूछे जाने पर कि भगवान् के शरीर को हम कैसे करेंगे? भगवान ने कहा- तथागत की शरीर पूजा से बेपर्वाह रहो, सच्चे पदार्थ के लिए पर्वाह करनी चाहिए। सत् अर्थ के लिए उद्योग करना चाहिए। सत अर्थ में अप्रभारी उद्योगी आत्मसंयमी हो विहरना। पुनः पूछे जाने पर कहा- राजा चक्रवर्ती के शरीर के समान बर्ताव किया जाना चाहिए। राजा चक्रवर्ती के शरीर को नए वस्त्र से लपेटते हैं फिर रुई से लपेटते हैं, तेल की लोहद्रोणी में रखकर दूसरी से ढाककर गन्धों की चिता बनाकर जलाते हैं, जलाकर बड़े चौरास्ते पर स्तूप बनाते हैं। अन्तिम उपदेश के बाद भगवान प्रथम ध्यान, द्वितीय ध्यान, तृतीयध्यान, चतुर्थध्यान आकाशानंचायतन विज्ञानानंचायतन, आकिंचन्यायतन, नैवसंज्ञानसंज्ञायतन को प्राप्त कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। चक्रवर्ती राजा के समान चिता जलाई गई एवं स्तूप बनवाए गए।

बौद्ध परम्परा में धीर पुरुष को मृत्यु की चिन्ता न कर पराक्रम करने की सलाह दी गई है, इसके विपरीत धार्मिक पुरुष के लिए कहा गया है कि जैसे कोई गाड़ीवान, समतल पक्की सड़क को छोड़कर ऊंची नीची राह में आ, धुरा टूट जाने से, चिन्ता में पड़ जाता है, वैसे ही धर्म को छोड़कर अधर्म में पड़ जाने से मृत्यु के मुख में गिरकर, धुरा टूट जाने वाले जैसा चिन्ता में पड़ जाता है।[१२]

विलटश्री आदि बौद्ध विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि निम्न आधारों में आत्महत्या पालि बौद्ध साहित्य में स्वीकार की गयी है-

१. अर्हत बनने के उपरान्त यथाशीघ्र स्वेच्छिक मृत्यु के द्वारा निर्वाण प्राप्त करना।

२. बोधिसत्त्वों के द्वारा दूसरों की भलाई के लिए सदा तत्पर रहना तथा अपना जीवन दान कर देना।

विनय टीका में (।।।-८२) कहा गया है कि यदि दवाइयां एवं परिचारक हो, तो बीमार व्यक्ति मरना चाहे यह ठीक नहीं, यदि बीमारी बहुत गम्भीर है, परिचारक भिक्षु घबड़ाए हुए है, ऐसी अवस्था में यदि बीमार भिक्षु दवा लेना छोड़ दे तो ठीक है। भिक्षु बीमार नहीं है परन्तु धार्मिक चेतना के कारण भोजन को रुकावट मानकर भोजन छोड़ दे, समाधि लगा ले तो कोई बात नहीं। विशेष उपलब्धि वाले (क्षीणास्रवी आदि) भोजन का त्याग कर दे तब भी ठीक है।[१३]

(ग) तुलनात्मक अध्ययन

जैन एवं बौद्ध दोनों परम्पराओं में समाधिपूर्वक मरण की परम्परा है। जैन परम्परा में जिस प्रकार विशेष शब्द 'सल्लेखना' से साधना का सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। बौद्ध परम्परा में यह औपचारिक नहीं है, लेकिन विभिन्न सन्दर्भों से यह स्पष्ट अवश्य होता है कि समाधिपूर्वक मरण प्रशंसनीय रहा है। दोनों परम्पराओं में यह आत्महत्या या इच्छा मृत्यु जैसी परम्पराओं से भिन्न है।

वस्तुतः आध्यात्मिक दृष्टि से जब साधक संसार की नश्वरता को समझकर उचित समय पर समाधि पूर्वक जीवन का त्याग करता है वह समाधिमरण है। इसमें मृत्यु का डर नहीं रह जाता है। जैसे योद्धा युद्ध में अपने देश की रक्षा के लिए प्राण की परवाह नहीं करता है उसी प्रकार साधक अपने धर्म की रक्षा में जीवनशक्ति को छोड़ देता है इस साधना को आत्महत्या जैसे शब्दों से जोड़कर वस्तुतः आध्यात्मिक साधना के उच्च स्तर को न समझ पाना है।

समानता

- दोनों परम्पराओं में समाधिपूर्वक=ध्यानपूर्वक मरण प्रशंसनीय है।
- दोनों परम्पराओं में आत्महत्या को गर्हित कहा गया है।
- दोनों परम्परा की 'समाधिमरण' परम्परा को गलत ढंग से समझा गया है। भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वान् इसे आत्महत्या या इच्छामृत्यु आदि के रूप में देख रहे हैं। इनकी मूल भावना मृत्यु पर विजय को नहीं समझ पाए हैं। इसका अंग्रेजी अनुवाद सोसाइड करके गलती की गई है।
- बौद्ध परम्परा में प्रचलित ध्यान प्रथम ध्यान, द्वितीय ध्यान, तृतीयध्यान चतुर्थध्यान, आकाशनंचायतन, विज्ञानांनचायतन, आकिंचन्यायतन नैवसंज्ञानसंज्ञायतन को जैनपरम्परा में प्रचलित ध्यानों से समानता प्राप्त होती है।

अन्तर

- जैन परम्परा आत्मवादी नित्यानित्यवादी है बौद्ध परम्परा अनित्यवादी, अनात्मवादी है। अतः जहां जैन परम्परा में आत्मा की पुद्गल शरीर से मुक्ति की बात की जाती है, वहीं बौद्धों में इसे मृत्यु या निर्वाण माना गया है।
- जैन परम्परा में अन्तिम समय को समाधि का लक्ष्य मानकर, पहले की समाधि सहायक है। बौद्ध परम्परा में मृत्यु का भय दिखाकर पहले समाधि का धर्मध्यान करने की बात कही जाती है।

● जैन परम्परा की भांति बौद्धों में 'सल्लेखना' जैसे विशेष शब्दों का कोई स्थान नहीं है।

● वर्तमान में जैन परम्परा की भांति आज बौद्ध परम्परा में यह परम्परा प्रचलित नहीं है, लेकिन तन्त्रयान परम्परा में काल चक्रयान के माध्यम से मृत्यु को जीतने का प्रयास किया जाता है।

संदर्भ-संकेत

१. संयुत्तनिकाय पालि २/२/१०
२. संयुत्तनिकाय १/५/११
३. संयुत्तनिकाय २.१.७
४. संयुत्तनिकाय २.२.२
५. संयुत्तनिकाय २.२.५
६. संयुत्तनिकाय २.२.६
७. संयुत्तनिकाय २.२.१०
८. संयुत्तनिकाय २.३.६
९. संयुत्तनिकाय ३.३.३
१०. संयुत्तनिकाय ४.३.३
११. बौद्ध आचार में आत्महत्या की समीक्षा-डॉ. जे. के. शर्मा का लेख ज्ञानायनी, वर्ष ३, संयुक्तांक (१-२) २००५, लखनऊ
१२. संयुत्त निकाय २.३.३.
13. Damien Keoun (1996), Buddhism & Bio Ethics, Londan, Macmillan, p. 60
Rinpoche, Sogyal (1992) The Tiketan Book Living Dying, London, Rider pp. 301-376.
ELawotte (1987) Religionus Suicide in Early Buddhisim in Buddhism Shlies Review 4, p. 115.

द्रष्टव्य -

१. विनयपिटक पालि
२. भगवती आराधना
३. अनेकान्त, ५६/१-२
४. ज्ञानायनी, वर्ष-३ संयुक्तांक (१-२)



बौद्ध एवं जैन विद्या में प्रज्ञा

बौद्ध विद्या में प्रज्ञा-

पालिसाहित्य में छः पारमिताओं और बौद्ध संस्कृत साहित्य में दश पारमिताओं का उल्लेख मिलता है। सभी पारमिताओं-दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा आदि में प्रज्ञापारमिता सर्वोपरि है। जो शान्ति के इच्छुक श्रावकों को सर्वज्ञ बनाकर परम शान्ति प्रदान करती है, जो मार्ग दिखाकर संसार का हित करने वाली है। जो लोक में परमार्थ को प्राप्त कराने वाली है अथवा जो ज्योतिर्मय परम तत्त्व का साक्षात्कार कराने वाली है, जिसके कारण समस्त विश्व अद्वय हो जाता है, उन श्रावकों, बोधिसत्त्वों और बुद्धों की जननी भगवती प्रज्ञापारमिता को नमस्कार किया गया है। प्रज्ञापारमिता के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए अष्ट साहस्रिका प्रज्ञापारमिता सूत्र में कहा गया है-

आकाशमिव निर्लेपां निष्प्रपञ्चां निरक्षराम्।
यस्त्वां पश्यति भावेन स पश्यति तथागतम्।।
त्वां प्राप्य प्रलयं यान्ति दोषा वादाश्च वादिनाम्।
मास्त्वमेका मोक्षस्य नास्त्यन्य इति निश्चयः।।
व्यवहारं पुरस्कृत्य प्रज्ञप्त्यर्थं शरीरिणाम्।
कृपया लोकनाथैस्त्वमुच्यसे नहि चोच्यसे।।

अर्थात्- प्रज्ञापारमिता आकाश के समान निर्लेप, प्रपञ्चशून्य और अनिर्वचनीय है। जो प्रज्ञापारमिता को पाता है वह तथागत को पा लेता है। प्रज्ञापारमिता का साक्षात्कार होने पर तार्किकों के वाद और तर्क विलीन हो जाते हैं। प्रज्ञापारमिता के अतिरिक्त मोक्ष का अन्य कोई मार्ग नहीं है-यह निश्चित है। वास्तव में पारमार्थिक दृष्टि से प्रज्ञापारमिता अनिर्वचनीय है, फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से लोगों को बोध कराने के लिए भगवान कृपा करके प्रज्ञा पारमिता का उपदेश देते हैं।

तर्क, वितर्क, विवाद और विरोध-ये सब प्रज्ञापारमिता के बल से शान्त हो जाते हैं। जितने निमित्त हैं, उतने ही संग हैं, निमित्त से संग होता है। जो सब धर्मों का स्वभाव शान्तता है, वही प्रज्ञापारमिता है। तथागत ने सब धर्मों को अकृत जाना है। इस प्रकार का ज्ञान होने पर सब संग-कोटियाँ नष्ट हो जाती है। जिस प्रकार महासमुद्र में नौका टूट जाने पर जो लोग पतवार का या लकड़ी के तख़्ते का या शव का सहारा नहीं लेते हैं, वे जल में ही डूब जाते हैं और जो लोग सहारा ले लेते हैं वे पार जाकर स्थल पर स्थिर

हो जाते हैं। जो लोग प्रज्ञापारमिता का सहारा नहीं लेते, वे सर्वज्ञता को न पाकर श्रावक या प्रत्येक बुद्ध ही बने रहते हैं, किन्तु जो लोग प्रज्ञापारमिता को प्राप्त कर लेते हैं, वे सर्वज्ञ बनकर अद्वितीय सम्यक् सम्बोधि का साक्षात्कार करते हैं। जिस प्रकार कच्चे घड़े में पानी नहीं लाया जा सकता क्योंकि ऐसा करने पर घड़ा गलकर मिट्टी बन जाता है और पानी गन्दा होकर बह जाता है किन्तु अच्छी तरह पकाए गए घड़े में पानी लाया जा सकता है, उसी प्रकार परिपक्व प्रज्ञा का आश्रय लेने पर ही बोधिसत्त्व कृतकृत्य हो सकता है।

सब धर्मों की धर्मता अनिर्वचनीय है, सब धर्म भी अनिर्वचनीय हैं। शून्यता अनिर्वचनीय है। जो प्रज्ञापारमिता में विचरता है, वह परमार्थ में विचरता है निमित्त में नहीं। यह प्रतीत्यसमुत्पाद-गम्भीर है। समस्त धर्म नाम-रूप-मात्र है और उनका निर्वचन केवल व्यवहारदृष्टि से ही संभव है। समस्त धर्म न आते हैं, न जाते हैं, न उसके प्रति राग है न द्वेष है, वे संग और असंग से रहित है, वे ब्रह्मरूप है। तथागत प्रपञ्चशून्य है। तथागत न आते हैं न जाते हैं। समस्त धर्म बन्धन एवं मोक्ष से रहित हैं, स्वभाव-शून्य हैं, उनकी अपनी कोई सत्ता नहीं है, यह ज्ञान ही प्रज्ञापारमिता है।

'चित्तविशुद्धिप्रकरणम्' में स्पष्ट कहा गया है कि प्रज्ञा का साक्षात्कार कर लेने पर भी निर्लिप्त होकर लोककल्याणार्थ कर्म करने चाहिए। जैसे कीचड़ में उगा हुआ कमल कीचड़ में लिप्त नहीं रहता है अर्थात्- निर्मल प्रज्ञा द्वारा अविद्या जाल को काट फेंकने पर यहीं इसी जन्म में बुद्धत्व प्राप्त होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। यथा-

विधूतकल्पनाजालं प्रज्ञानिर्मलचेतसां।
जन्ममन्यत्रैव बुद्धत्वं प्राप्यते न च संशयः।।

'मिलिन्दपञ्ह' में राजा मिलिन्द नागसेन भिक्षु से बुद्धि और प्रज्ञा का भेद पूछते हैं। भन्ते नागसेन दोनों को स्पष्ट करते हुए प्रज्ञा की वरीयता बतलाते हैं। वे कहते हैं- महाराज ! ऊहापोह की पकड़ बुद्धि का लक्षण है और अविद्या का छेदन करना प्रज्ञा का लक्षण। जैसे जौ काटने वाले बायें हाथ से जौ की बालों को पकड़कर और दाहिने हाथ से हंसिया पकड़ कर काटते हैं वैसे ही योगी बुद्धि से मन को पकड़कर प्रज्ञा से क्लेशों को काट देता है।

महाराज! स्वप्रकाशता भी प्रज्ञा का लक्षण है। प्रज्ञा होते ही अविद्यारूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है और विद्यारूपी प्रकाश फैल जाता है, तब चारों आर्यसत्य स्पष्ट दिखाई देते हैं। योगी अनित्य को, दुख को और अनात्म को भलीभांति देख लेता है। महाराज! यह प्रज्ञा समाधि लगने पर प्राप्त होती है। जितने भी पुण्यधर्म हैं सब समाधि की ओर खिंचते हैं। भगवान ने कहा है-भिक्षुओं! समाधि की भावना करो, समाधि लगने पर ही सच्ची प्रज्ञा प्राप्त होती है।

पालि साहित्य में यथार्थ ज्ञान और विपश्यना ज्ञान को प्रज्ञा कहा गया है।[1] संयुत्तनिकाय में निर्वेद, वैराग्य आदि को धर्मस्वरूप देखना यथार्थज्ञान कहा है।

प्रज्ञा की प्राप्ति, वृद्धि एवं विपुलता स्रोतापन्न होने से बतलाई गई है।[2] आलवकसुत्त में कहा गया है कि अर्हत् और धर्म में श्रद्धा रखने एवं उसकी सुश्रूषा करने से अप्रमत्त और विचक्षण पुरुष निर्वाण की प्राप्ति के लिए प्रज्ञा का लाभ करता है यथा-

सद्दहानो अरहतं, धम्मं निब्बानपत्तिया।

सुस्सूसं लभते पञ्ञा, अप्पमत्तो विचक्खणो।।[3]

स्रोतापत्तिसंयुत्त में स्रोतापन्न से प्रज्ञा की प्राप्ति बतलाते हुए प्रज्ञा के विभिन्न प्रकार भी बतलाए हैं- महाप्रज्ञा, पृथुलप्रज्ञा, विपुलप्रज्ञा, गम्भीरप्रज्ञा, अप्रमत्तप्रज्ञा, भूरिप्रज्ञा, प्रज्ञाबाहुल्य, शीघ्रप्रज्ञा, लघुप्रज्ञा, प्रसन्नप्रज्ञा, तीव्रप्रज्ञा, तीक्ष्णप्रज्ञा और निर्वेदिकप्रज्ञा।

प्रज्ञा को मनुष्यों का रत्न कहा गया है- "पञ्ञा नरानं रतनं।"

और कहा है कि प्रज्ञा के समान कोई प्रकाश नहीं है- 'नत्थि पञ्ञा समा आभा'

इतना ही नही निर्वाण की प्राप्ति प्रज्ञा के बल पर होती है।

चित्त की एकाग्रता से प्रज्ञा का प्रादुर्भाव होता है क्योंकि जिसका चित्त समाहित है उसी को यथाभूत सत्य का परिज्ञान होता है। द्वादश निदानों में अविद्या ही मूल स्थान है। इस दुखमय प्रपञ्च का मूल कारण ही अविद्या है। इस अविद्या को दूर करने का एकमात्र उपाय है-प्रज्ञा। भवरूपी दुख के उन्मूलन में प्रज्ञा पारमिता की ही प्रधानता है। इस प्रज्ञा का दूसरा नाम है-विपश्यना। इस ज्ञान के उत्पन्न करने में समाधि का महत्त्व है।

प्रज्ञा पारमिता का अर्थ है-सब धर्मों की निस्सारता का ज्ञान अथवा सर्वधर्मशून्यता। शून्यता में प्रतिष्ठित होने वाला व्यक्ति ही प्रज्ञापारमिता-पूर्ण ज्ञान या सर्वज्ञता को प्राप्त कर लेता है। जब यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि भावों की उत्पत्ति न स्वतः होती है, न परतः होती है, न उभयतः होती है, न अहेतुतः होती है, तभी प्रज्ञा पारमिता का उदय होता है। उस समय साधक के लिए किसी प्रकार का व्यवहार शेष नहीं रह जाता। उस समय यह परमार्थ स्वतः भासित होने लगती है कि यह दृश्यमान वस्तु-समूह माया के सदृश है। वास्तव में सब शून्य ही शून्य है। यही ज्ञान आर्य-ज्ञान कहलाता है। इस ज्ञान का जब उदय होता है तब अविद्या की निवृत्ति होती है। अविद्या के निरोध होने से संस्कारों का निरोध होता है। पूर्व-पूर्व कारण के निरोध होने से उत्तरोत्तर कार्य का निरोध होता है और अन्त में दुख का निरोध होता है। इस प्रकार प्रज्ञापारमिता के उदय होने पर संसार की निवृत्ति और निर्वाण की प्राप्ति होती है। संवृत्ति= संसार=समस्त दोषों का आकार और निवृत्ति= निर्वाण=समस्त गुणों का भण्डार है।[4] प्रज्ञापारमितासूत्र में प्रज्ञा का महत्त्व इस प्रकार है-

'सर्वेषामपि वीराणां परमार्थनियतात्मनाम्।
साधिका जनयित्री च माता त्वमसि वत्सला।।
बुद्धैः प्रत्येकबुद्धैश्च श्रावकैश्च निषेविता।
मार्गस्त्वमेका मोक्षस्य नास्त्यन्य इति निश्चयः।।[५]

इस पारमिता की शिक्षा से बोधिसत्त्व की साधना सफल हो जाती है। वह बुद्धत्व की प्राप्ति कर सब सत्त्वों के उद्धार के महान कार्य में लग जाता है। महायान के वैपुल्यसूत्रों में दो प्रकार के ग्रन्थ पाए जाते हैं। एक में बुद्ध, बोधिसत्त्व और बुद्धयान की महत्ता बतलाई गई है। ललितविस्तर, सद्धर्मपुण्डरीक आदि ग्रन्थ इस प्रकार के हैं। दूसरे वे ग्रन्थ हैं जिनमें महायान के मुख्य सिद्धान्त 'शून्यता' या 'प्रज्ञा' की महत्ता बतलाई गई है-ऐसा ग्रन्थ है- प्रज्ञापारमितासूत्र। एक ओर शून्यता और दूसरी ओर महाकरुणा-इन दो सत्यों का समन्वय करने का प्रयत्न प्रज्ञापारमितासूत्र में दिखाई देता है।[६] 'बोधिचर्यावतार' में आर्य शान्तिदेव ने इसी समन्वय को व्यवस्थित किया है। प्रज्ञापारमितासूत्रों के अनेक संस्करण चीनी, तिब्बती और संस्कृत में प्राप्त होते हैं। संस्कृत में उपलब्ध प्रज्ञापारमिता सूत्रों के संस्करण हैं- शतसाहस्रिका, पंचविंशतिसाहस्रिका, अष्टसाहस्रिका, सद्धर्मद्विसाहस्रिका, सप्तशतिका, वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता, अल्पाक्षरी प्रज्ञापारमिता, प्रज्ञा-पारमिताहृदयसूत्र। इस ग्रन्थ का प्रभाव माध्यमिक तथा योगाचार के आचार्यों पर अधिक रहा।[७] नागार्जुन, असंग तथा वसुबन्धु ने इन प्रज्ञापारमिताओं पर लम्बी चौड़ी व्याख्याएं लिखी हैं जो मूलसंस्कृत में उपलब्ध न होने पर भी चीनी तथा तिब्बती अनुवादों में सर्वथा सुरक्षित हैं। प्रज्ञापारमिता ग्रन्थों की शिक्षा है कि सब शून्य है अर्थात् पुद्गल और धर्मद्रव्य स्वभाव नहीं है। विज्ञान और विज्ञेय (बाह्यार्थ) दोनों का परमार्थतः अस्तित्त्व नहीं है केवल संवृतितः है। सर्वास्तिवाद पुद्गलनैरात्य मानता है किन्तु वह नियम संख्या का द्रव्य सत् मानता है। महायान धर्मों को भी निःस्वभाव मानते हैं। धर्म भी संवृतितः है, परमार्थतः नहीं। जीवन प्रवाहमात्र है शाश्वत नहीं है। इसका उच्छेद भी नहीं होता।[८]

(ख) जैन विद्या में प्रज्ञा- बौद्धविद्या की भांति जैन विद्या में प्रज्ञा शब्द का व्यापक रूप नहीं हैं। जैन परम्परा में मनुष्य की सम्यक् शक्ति को प्रज्ञा कहा गया है एवं उसके कार्य को ज्ञान कहा है।

जैन साहित्य में प्रज्ञा परीषह की चर्चा की गई है। मैं अंग, पूर्व और प्रकीर्णक शास्त्रों में विशारद हूँ तथा शब्दशास्त्र, न्यायशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र में निपुण हूँ। मेरे आगे दूसरे जन सूर्य की प्रभा से अभिभूत हुए खद्योत के समान बिलकुल नहीं सुशोभित होते हैं। इस तरह विज्ञानमद का निरास होना प्रज्ञापरीषहजय कहलाता है।[९]

प्रज्ञा और अज्ञान परीषह में अन्तर भी बताया गया है क्योंकि प्रज्ञा और अज्ञान परीषह में भी विरोध है इसलिए इन दोनों का एक साथ होना असम्भव है तथापि एक साथ एक आत्मा में श्रुतज्ञान की अपेक्षा प्रज्ञापरीषह और अवधिज्ञान आदि के अभाव की अपेक्षा अज्ञान परीषह रह सकते हैं अस्तु विरोध नहीं भी है।[10]

प्रज्ञा व अदर्शन परीषह में अन्तर स्पष्ट करते हुए भट्टाकलंकदेव लिखते हैं कि श्रद्धान रूप दर्शन को ज्ञानाविनाभावी मानकर उसका प्रज्ञापरीषह में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता क्योंकि कभी-कभी प्रज्ञा के होने पर भी तत्त्वार्थ श्रद्धान का अभाव देखा जाता है।

प्रज्ञा और अज्ञान-दोनों का एक ही कारण है क्योंकि ज्ञानावरण के उदय से प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होती है। क्षयोपशम की प्रज्ञा अन्य ज्ञानावरण के उदय में मद उत्पन्न करती है। समस्त ज्ञानावरण का क्षय होने पर मद नहीं होता। अतः प्रज्ञा और अज्ञान दोनों ज्ञानावरण से उत्पन्न होते हैं। मोहनीयकर्म के भेद गिने हुए हैं और उनके कार्य भी दर्शन, चारित्र आदि का नाश करना सुनिश्चित है। अतः 'मैं बड़ा विद्वान् हूँ' यह प्रज्ञामद मोह का कार्य न होकर ज्ञानावरण का कार्य है और चारित्रवालों के भी प्रज्ञापरीषह होती है।[11]

प्रज्ञाश्रमणत्व को जैन परम्परा में ऋद्धियों के अन्तर्गत माना गया है[12] जिसे प्रज्ञाश्रमणत्व ऋद्धि कहा गया है। श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर प्रज्ञाश्रमण ऋद्धि उत्पन्न होती है। प्रज्ञाश्रमण ऋद्धि से युक्त जो महर्षि अध्ययन के बिना किए ही चौदह पूर्वों में विषय की सूक्ष्मता को लिए हुए सम्पूर्ण श्रुत को जानता है और उसका नियमपूर्वक निरूपण करता है उसकी बुद्धि को प्रज्ञाश्रमण ऋद्धि कहते है। वह औत्पत्तिकी, पारिणामिकी, वैनयिकी और कर्मजा चार भेद वाली है, इनमें से पूर्वभव में किए गए श्रुत के विनय से उत्पन्न होने वाली औत्पत्तिकी बुद्धि है।[13]

विनय से अधीत श्रुतज्ञान यदि किसी प्रकार प्रमाद से विस्मृत हो जाता है तो उसे वह परभव में उपस्थित करती है। यह औत्पत्तिकी प्रज्ञाश्रमण छह माह के उपवास से कृश होता हुआ भी उस बुद्धि के माहात्म्य को प्रकट करने के लिए पूछने रूप क्रिया में प्रवृत्त हुए चौदहपूर्वी को भी उत्तर देता है। निज-निज जाति-विशेषों से उत्पन्न हुई बुद्धि पारिणामिकी है, द्वादशांग श्रुत के योग्य विनय से उत्पन्न होने वाली वैनयिकी और उपदेश के बिना ही विशेष तप की प्राप्ति से आविर्भूत हुई चतुर्थ कर्मजा प्रज्ञाश्रमण ऋद्धि है।[14]

धवला में यह प्रश्न उठाया गया है कि तीर्थंकरों के मुख से निकले हुए बीजपदों के अर्थ का निश्चय करने वाले वृषभसेनादि गणधरों की प्रज्ञा का कहाँ अन्तर्भाव होता है। धवलाकार ने उत्तर देते हुए कहा है कि उसका पारिणामिक प्रज्ञा में अन्तर्भाव होता है क्योंकि वह विनय, उत्पत्ति और कर्म के बिना उत्पन्न होती है। पारिणमिकी और औत्पत्तिकी प्रज्ञा में अन्तर बताते हुए धवला में कहा गया है कि जाति विशेष में उत्पन्न

कर्मक्षयोपशम से आविर्भूत हुई प्रज्ञा पारिणामिकी है और जन्मान्तर में विनय जनित संस्कार से उत्पन्न प्रज्ञा औपपत्तिकी है। यह दोनों में विशेष है। प्रज्ञा और ज्ञान में अन्तर करते हुए धवलाकार ने लिखा है कि-

पण्णाए णाणस्य य को विसेसो रणाणहेदुजीवसत्ती गुरूवएसणिरवेक्खा पण्णा नाम, तक्कारिय णाणं। तदो अत्थि भेदो। अर्थात्- गुरु के उपदेश से निरपेक्ष ज्ञान की हेतुभूत जीव की शक्ति का नाम प्रज्ञा है और उसका कार्य ज्ञान है-इस कारण दोनों में भेद है।

इस प्रकार बौद्धग्रन्थों के अनुसार ऊहापोह की पकड़ बुद्धि का लक्षण है और अविद्या-छेदन प्रज्ञा का लक्षण है। प्रज्ञा होते ही अविद्या रूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है विद्यारूपी प्रकाश फैल जाता है तब चारों आर्यसत्य स्पष्ट दिखाई देते हैं। तब योगी अनित्य को, दुख को और अनात्म को भलीभांति देख लेता है। इस तरह योगी बुद्धि से मन को पकड़कर प्रज्ञा से क्लेशों को काट देता है। जैन ग्रन्थों के अनुसार ज्ञान का हेतुभूत जीव की शक्ति का नाम प्रज्ञा है और उसका कार्य ज्ञान रूप है प्रकारान्तर से सम्यक्ज्ञान ही प्रज्ञा है।

इस प्रकार विशिष्ट-प्रकृष्ट ज्ञान ही प्रज्ञा है जिसका विस्तृत विवेचन बौद्ध एवं जैनविद्या में हुआ है।

सन्दर्भ-संकेत

१. वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र-लालमणि जोशी, भूमिका पृ. ६-१०
२. संयुत्तनिकाय, पृ. ३५२
३. संयुत्तनिकाय १, पृ. २१६
४. बौद्धदर्शन मीमांसा-बलदेव उपाध्याय, पृ. ११५
५. प्रज्ञापारमिता सूत्र, १६-१७
६. बौद्धधर्म-दर्शन-आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ. १५६
७. बौद्धदर्शनमीमांसा, पृ. ६५
८. बौद्धधर्मदर्शन-आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ. १६६
९. सवार्थसिद्धि, ६/६/४७७/४
१०. राजवार्तिक, ६/१७/३/६१५/२८
११. राजवार्तिक, ६/१४
१२. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग १ पृ. ४८०
१३. तिलोयपण्णत्ति, ४/१०१७-१०२१
१४. चारित्रसार २१६/४, धवला ६/४, १, १८/२२/८२
दृष्टव्य- डॉ. राका जैन का लेख 'बौद्ध परम्परा में प्रज्ञा' ज्ञानायनी, लखनऊ

● ● ●

जैन एवं बौद्धदर्शन में सम्यक्दृष्टि

जैन एवं बौद्धदर्शन में 'सम्यक्दृष्टि' का विशिष्ट महत्व है। सम्यक्दृष्टि से ही कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है। जैन परम्परा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र को मोक्ष का मार्ग कहा है। बौद्धपरम्परा में भी आर्य अष्टांगिक मार्ग को दुःख निरोधगामी मार्ग कहा है। इस आर्य अष्टांगिक मार्ग में प्रथम सम्यक्दृष्टि है। दोनो परम्पराओं में दृष्टि के पहले 'सम्यक्' शब्द प्रयुक्त है क्योंकि दृष्टि या दर्शन मिथ्या भी होता है। 'सम्यक्' शब्द से मिथ्यादृष्टि का परिहार हो जाता है।

(क) जैन परम्परा में सम्यक्दृष्टि-

जीव, अजीव आदि सभी तत्त्वों को यथार्थ ग्रहण करने वाली दृष्टि सम्यक्दृष्टि है। यह दृष्टि जिसे प्राप्त होती है, वह सम्यक्दृष्टि कहलाता है। सम्यक्दृष्टि जिस व्यक्ति को प्राप्त हो जाती है उसे मोक्षगमन का आरक्षण पत्र उपलब्ध हो जाता है। देर-सबेर उसकी मुक्ति होनी निश्चित है। जब तक वह मुक्त नहीं होता सम्यक्दृष्टि रूप में संसार में रहता है तथा प्रशस्त गतियों एवं कुलों में उत्पन्न होता है। सम्यक्त्व एक प्रकार से आत्मविकास की सुदृढ़ पृष्ठभूमि है, जिस पर आरूढ़ होकर ही व्यक्ति पूर्ण विकास की स्थिति तक पहुंच सकता है। प्रमुख रूप से दृष्टि तीन प्रकार की बतलाई गई है। सम्यक्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, सम्यक्मिथ्यादृष्टि। जो जीव अजीव आदि तत्त्वों पर सम्यक्श्रद्धा रखते हुए भी किसी एक तथ्य के प्रति संदेह रखनें वाली दृष्टि रखता है, वह सम्यक्मिथ्यादृष्टि है।

मिथ्यादृष्टि- जो दृष्टि जीव, अजीव आदि तत्त्वों को अयथार्थ ग्रहण करती है वह मिथ्यादृष्टि है। यह दृष्टि जिस व्यक्ति को होती है वह 'मिथ्यादृष्टि' कहलाता है।

तत्त्व के विपरीत श्रद्धान को मिथ्यादर्शन कहते हैं। मिथ्यादर्शनमतत्त्व- श्रद्धानम्।[1] जिस प्रकार धतूरा आदि फल के खाने वाले पुरुष की दृष्टि दूषित हो जाने से वह वस्तुओं को विपरीत देखता है, उसी प्रकार मोहनीय के भेदभूत मिथ्यात्व के उदय से जो पदार्थों का विपरीत दर्शन होता है, वह मिथ्यादर्शन कहलाता है।

मिथ्यादर्शन रूप आचरण के करने-कराने में उद्यत अन्य को 'तुम ठीक कर रहे हो' इस प्रकार की प्रशंसा आदि के द्वारा दृढ़ करना, मिथ्यादर्शन कहलाता है। मिथ्यादर्शन के मार्ग से निरन्तर चलने वाले अन्य को मैं साधता हूँ, इस प्रकार से अनुमोदन करने वाले पुरुष की प्रवृत्ति को मिथ्यादर्शन क्रिया कहते हैं।[2]

- जो एकान्तरूप पिशाच से पीड़ित है उनको बहुत मानना मिथ्यादृष्टि है।[3]

● मिथ्यादृष्टि के विद्यमान व अविद्यमान गुणों का वचन से कीर्तन करना, मिथ्यादृष्टि स्तव हैं। मिथ्यादृष्टियों के साथ एक स्थान पर रहने से जो परस्पर में वार्तालाप आदि के द्वारा परिचय उत्पन्न होता है, उसे मिथ्यादृष्टिसंस्तव कहते हैं। एक स्थान पर साथ में रहने से मिथ्यादृष्टियों की प्रक्रिया के देखने व सुनने से दृढ़ सम्यग्दृष्टि के भी दृष्टिभेद हो जाना सम्भव है फिर भला मन्दबुद्धि का तो कहना ही क्या है।[4]

●मिथ्यात्व के उदय से जीव के जो औदायिक भाव होता है उससे मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है। जिनोपदिष्ट तत्त्वों के विषय में श्रद्धान न करना, विपरीत श्रद्धान करना अन्यथा कथन करना, सन्देह करना तथा उनके विषय में अनादर करना मिथ्यात्व है। उसके होने पर मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है।[5]

'मिथ्यात्व' संसार में परिभ्रमण का हेतु है, जबकि 'सम्यक्त्व' जीव को संसरण से मुक्ति की ओर ले जाता है। सामान्यतया संसार के प्राणी मिथ्यात्व दशा में जीते हैं। कुछ मिथ्यात्व दशा में अपने चैतन्य विकास के लिए अभियान शुरू कर देते हैं। उनमें जो कषाय की अल्पता, वृत्तिका, अनाग्रहीपन, मोह का हल्कापन एवं सच्चरित्र के प्रति लगाव होता है उससे रास्ता प्रशस्त हो जाता है, किन्तु 'सम्यक्त्व' को उपलब्ध किए बिना मोक्ष का आरक्षण पक्का नहीं होता। चेतना के उर्ध्वारोहण करने के लिए सम्यक्त्व दशा को उपलब्ध करना जरूरी है।

सम्यक्त्व का अर्थ है तत्त्व में सही श्रद्धा। जो तत्त्व जैसा है उसे उसी रूप में समझना। सम्यक्त्व एक दर्पण है जिसप्रकार दर्पण में व्यक्ति या वस्तु का यथार्थ प्रतिबिम्ब पड़ता है। वैसे ही सम्यक्त्व के द्वारा जीव, अजीव आदि तत्त्वों का सही बोध होता है। सम्यक्त्व के पाँच प्रकार बतलाए गए हैं- औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, सासादन एवं वेदक।

औपशमिक सम्यक्त्व- दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियाँ- मिथ्यात्व मोह, मिश्र मोह और सम्यक्त्व मोह तथा चारित्र मोह की चार प्रकृतियां-अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया एवं लोभ ये सात प्रकृतियां जिस समय उपशांत हो जाती हैं, उस समय जो 'सम्यक्त्व' उपलब्ध होता है, वह औपशमिक सम्यक्त्व है। इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है उसके बाद बदलाव आता है।

क्षायिक सम्यक्त्व- मोह कर्म की सात प्रकृतियों का सर्वथा क्षय होने से प्राप्त होने वाला सम्यक्त्व 'क्षायिक' सम्यक्त्व है, यह सदा बना रहता है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व- सात प्रकृतियां जब स्थूल रूप में विपाकावस्था में नहीं रहती, अपने फल का स्पष्ट अनुभव नहीं करवाती, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व हैं।

सासादन- जिन क्षणों में मिथ्यात्व पूरा नहीं छूटता है, सम्यक्त्व उपलब्ध नहीं होता, उन क्षणों में होने वाला सम्यक्त्व सासादन सम्यक्त्व कहलाता है।

वेदक- सातों प्रकृतियों का अन्तिम रूप से वेदन वाला सम्यक्त्व वेदक सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व के पाँच लक्षण इस प्रकार बतलाए गए हैं-

शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा एवं आस्तिक्य।

शम- क्रोध आदि कषायों का उपशम।

संवेग- मोक्ष की अभिलाषा।

निर्वेद- संसार से विरक्ति।

अनुकम्पा- प्राणीमात्र के प्रति दयाभाव।

आस्तिक्य- आत्मा, कर्म, कर्मफल आदि में विश्वास।

आचार्य तुलसी ने इस प्रकार सम्यक्त्व के इन पाँच लक्षणों को अभिव्यक्त किया है।

शान्त हैं आवेग सारे, शान्ति मन में व्याप्त है।
मुक्त होने की हृदय में प्रेरणा पर्याप्त है।
वृत्ति में वैराग्य, अन्तर्भाव में करुणा विमल,
अटल आस्था-ये सभी सम्यक्त्व के लक्षण सबल।।[६]

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, सम्यक्त्व के दूषण हैं। दूषणों का परिहार करने वाला और लक्षणों को विस्तार देने वाला व्यक्ति अपने सम्यक्त्व को सुरक्षित और उज्जवल रखने में समर्थ हो सकता है।

जो तत्त्व जिस रूप में हैं, उसे उसी रूप में समझने का नाम सम्यक्त्व है। जिन कारणों से सम्यक्त्व दूषित होता है, वे सम्यक्त्व के दूषण माने गए हैं। आज के संदर्भ में इन्हें प्रदूषण की संज्ञा दी जा सकती है। जैसे हवा, पानी आदि का प्रदूषण आत्मा के विशिष्ट गुण सम्यक्त्व को दूषित या मलिन बनाने के कारण शंका, कांक्षा आदि प्रदूषण हैं।

१. शंका- शंका का अर्थ है- सन्देह। यह तत्त्वों के प्रति हो सकता है। संदिग्ध अवस्था में की गई प्रवृत्ति वांछित परिणाम नहीं ला सकती चाहे वह प्रवृत्ति तत्त्व-ज्ञान की हो, मंत्र-जाप की हो या अपने इष्ट की आराधना करने की हो। संदेहातीत आस्था ही व्यक्ति को इस प्रदूषण से त्राण दे सकती है।

२. कांक्षा- कांक्षा का अर्थ है- मिथ्याचार के स्वीकार की अभिलाषा अथवा लक्ष्य से विपरीत दृष्टिकोण में अनुरक्ति। कांक्षा के रहने पर कोई व्यक्ति निर्द्वन्द्व नहीं हो सकता है।

३. विचिकित्सा- सत्याचरण की फलप्राप्ति या लक्ष्यपूर्ति के साधनों के प्रति

संशयशीलता का नाम विचिकित्सा है। धर्म के प्रति संदेह करना इस दूषण के अन्तर्गत आता है।

परपाषण्ड़प्रशंसा और परपाषण्ड़परिचय का संबंध लक्ष्य से प्रतिगामी पुरुष या सिद्धान्त की प्रशंसा करने और उसके साथ संपर्क बढ़ाने से है। जो व्यक्ति लक्ष्य से प्रतिगामी पुरुष या सिद्धान्त की प्रशंसा करता है, वह उस गलत तत्त्व की प्रशंसा करता है, जो उक्त पुरुष को लक्ष्य से विपरीत दिशा में ले जा सकता है, यही बात परपाषण्ड़परिचय की है। सम्यक्त्व के इन पाँचों दूषणों को जानकर इनसे निर्लिप्त रहना ही सम्यक्त्व की विशुद्धि है और यही जीवन की सफलता है।

सम्यक्त्व के पाँच भूषण- १. स्थैर्य, २. प्रभावना, ३. भक्ति, ४. कौशल, ५. तीर्थसेवा। शरीर को अलंकृत करने के लिए आभूषण पहने जाते हैं। उसी प्रकार सम्यक्त्व को सजाने-संवारने के लिए सम्यक्त्व के पाँच भूषण बतलाए गए हैं। आत्मा यदि सुन्दर नहीं है तो शरीर को कितने ही आभूषण पहना दिए जाएं, आन्तरिक सौन्दर्य की वृद्धि नहीं होगी। आत्मा का सौन्दर्य बढ़ाने के लिए सम्यक्त्व के भूषणों का उपयोग करना जरूरी है।

१. स्थैर्य- अपने मन को लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के साधनों में स्थिर करना।

२. प्रभावना-धर्म की महिमा का विस्तार हो, वैसा प्रयत्न करना। जिन-प्रवचन की प्रभावना करना।

३. भक्ति- देव, गुरु और धर्म की भक्ति में निरन्तर लीन रहना।

४. कौशल- जैन तत्त्व-विद्या की विशद जानकारी प्राप्तकर उसमें निष्णात होना। जिन प्रवचन में मूढ़ नहीं बनना।

५. तीर्थसेवा- धर्मसंघ की वृद्धि करना और विचलित होती हुई धार्मिक आस्था का स्थिरीकरण करना।[७]

(ख) बौद्ध परम्परा में सम्यग्दृष्टि- भगवान् बुद्ध का दर्शन सम्यक्दृष्टि मूलक था। यहाँ सम्यक्दृष्टि से तात्पर्य यथार्थ ज्ञान से है, इसमें हम भगवान् बुद्ध के दर्शन को पाते हैं। यह उनका यथार्थ ज्ञान चार आर्यसत्यों के रूप में था, जिसमें धर्मदर्शन सभी प्रत्ययों का समावेश हो जाता है। वस्तुतः सम्यक्दृष्टि का क्षेत्र विस्तृत है। संक्षेप में बुद्ध शिक्षा को यथार्थ रूप में धारण करना सम्यक्दृष्टि है। इसकी व्याख्या करते हुए भदन्त आनन्दकौशल्यायन ने कहा है-[८]

दुराचरण को दुराचरण समझना। सदाचरण को सदाचरण समझना। लोभ, मोह, द्वेष का दुराचरण का मूल कारण समझना। अलोभ, अमोह, अद्वेष को सदाचरण का मूल

कारण समझना। चार आर्यसत्यों को समझना। दस संयोजन से मुक्त होनें का प्रयास करना। आत्मा को लेकर किसी दृष्टि में नहीं लगना। किसी भी दृष्टि में नहीं चिपटना। प्रतीत्यसमुत्पाद को यथार्थ रूप में समझना सम्यक्दृष्टि है।[९]

विभिन्न प्रसंगों में आर्यसत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद के ज्ञान के अतिरिक्त चक्षु-श्रोत, घ्राण, जिह्वा, काय और मन को अनित्य देखने से तथा रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श में धर्म को भी अनित्य देखने से सम्यक्दृष्टि वाला बतलाया गया है।[१०]

सम्यक्दृष्टि के साथ आर्यअष्टांगिक मार्ग का पालन करना अनिवार्य है। कहा गया है कि नारदमित्र प्रतीत्यसमुत्पाद के ज्ञान के बाद भी क्षीणास्रव अर्हत् नहीं है। जिस प्रकार कोई थका व्यक्ति मार्ग में कुआं पा जाए, लेकिन बाल्टी एवं डोर के अभाव में प्यास नहीं बुझा सकता है।[११] प्रतीत्यसमुत्पाद के ज्ञान को आर्यज्ञान कहा जा सकता है, अच्छी तरह देखा जाना कहा जा सकता है।[१२] प्रतीत्यसमुत्पाद के ज्ञान के बाद आर्यश्रावक की दृष्टि सम्यक् दर्शन सम्पन्न सद्धर्म को प्राप्त, शैक्ष्य, ज्ञानों से युक्त, धर्म के स्रोत में आया हुआ अमृत के द्वार पर खड़ा हुआ कहा जा सकता है। श्रमण और ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी होता है।[१३] सम्यक्दृष्टि को निर्वाण की ओर ले जाने वाला कहा गया है

सम्मादिट्ठि निब्बानपोणा निब्बानपब्भारा ति।[१४]

विभिन्न प्रसंगों में अन्यतैर्थिकों के साथ निगण्ठनाथपुत्त को गिनाया गया है लेकिन संयुत्तनिकाय के दृष्टिसंयुत्त में निगण्ठ को नहीं गिनाया गया है।

मिथ्यादृष्टि- बौद्धदर्शन में प्रायः मिथ्यादृष्टि शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। दृष्टियां ही मिथ्यादृष्टि हैं ऐसा माना जाता है क्योंकि एक मुक्तक में कहा गया है कि दृष्टि मानने वाले धर्म के जानने वाले नहीं होते।

इतो वहिद्धा पासण्डा, दिट्ठिसु पसीदन्ति ते।
न तेसं धम्मं रोचेमि, तं धम्मस्स अकोविदा।।[१५]

परवर्ती बौद्ध साहित्य में मिथ्यादृष्टि का प्रयोग हुआ है दृष्टियों के अन्तर्गत आगत मतों की समीक्षा मिथ्यादृष्टि के नाम से प्रचलित हो गई।[१६]

दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त में बासठ मिथ्यादृष्टियां बतलाई गई हैं इनको पूर्वान्तकल्पित एवं अपरान्तकल्पित नाम से विभाजित किया है, जिसमें एक में पूर्वजन्म से सम्बंधित तथा दूसरे में भविष्य में होने वाले जन्म से सम्बंधित दृष्टियां हैं।

सत्कायदृष्टि- सत्कायदृष्टि को सभी मिथ्यादृष्टियों का मूलकारण कहा गया है। सलाह दी गई है कि स्मृतिमान रहते सत्कायदृष्टि का प्रहाण करना चाहिए। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान को आत्मा समझने से सत्कायदृष्टि उत्पन्न होती है।[१७]

संसार के समुदय का यथार्थ ज्ञान करने से, लोक की नास्तित्व और अस्तित्व बुद्धि मिट जाती है। यह संसार आसक्ति के (ममत्व के) मोह में है। जब उसकी तृष्णा आसक्ति, ममत्व, मोह समाप्त हो जाता है, वह समझ लेता है कि दुःख ही उत्पन्न होता और निरुद्ध होता है, उसे किसी प्रकार का संशय नहीं रहता, सम्यक्दृष्टि कहा जाता है।[१८]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन एवं बौद्ध-दोनों परम्पराओं में सम्यक्दृष्टि का विशेष महत्त्व है। सम्यक्दृष्टि हमें सही विचार देता है। जैसे-गन्तव्य में पहुँचने के लिए पहले रास्ता चुना जाता है। यदि रास्ता ही गलत चुना जाएगा, तो गन्तव्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। इसलिए दोनों परम्पराओं में सम्यक्दृष्टि का महत्त्व स्वीकार किया गया है। दोनों परम्पराएं यथार्थज्ञान को सम्यक्दृष्टि मानती है। यह दूसरी बात है कि जैन परम्परा में वह यथार्थज्ञान सात तत्त्व हैं और बौद्ध परम्परा में चार आर्यसत्य। इसी प्रकार जैन परम्परा में जहाँ आत्मदृष्टि को सम्यक्दृष्टि कहा हैं वहीं बौद्धदर्शन में अनात्म दृष्टि को सम्यक्दृष्टि कहा है। बाद में दोनों परम्पराओं में अन्यदर्शनों के ज्ञान को भी मिथ्यादृष्टि कहा गया।

संदर्भ-संकेत

१. तत्त्वार्थवार्तिक, ७.१८२
२. सवार्थसिद्धि ६-५, तत्वार्थवार्तिक, ६.५.११
३. भगवती आराधना ४४
४. योगशास्त्र २-१७ पृ. ८८
५. लोकप्रज्ञप्ति ३, ११३४-३५
६. तत्त्वविद्या, आचार्य तुलसी पृ. ६५ से ६८
७. तत्त्वविद्या, आचार्य तुलसी पृ. २-३, पृ. ६५-६८
८. संयुत्तनिकाय पालि एक अध्ययन - डॉ. विजयकुमार जैन
९. बौद्ध धर्म : एक बुद्धिवादी अध्ययन-आनन्द कौशल्यायन, पृ. ६६
१०. संयुत्तनिकाय पालि, भाग ४, पृ. १२६
११. संयुत्त २, पृ. ९८-१०१
१२. संयुत्त, पृ. ५८
१३. वही पृ. ३६-४०
१४. संयुत्त ४, पृ. १६२
१५. संयुत्त १, पृ. १३४
१६. अभि. टी.का., पृ१. २७०
१७. संयुत्त ५, पृ. २५५
१८. संयुत्तनिकायपालि, २ पृ. १७



जैन एवं बौद्धदर्शन में प्रमाण

जैन बौद्ध न्याय के सही मूल्यांकन के लिए सम्पूर्ण भारतीय न्याय शास्त्रों के बीच उसका विकास क्रम देखना चाहिए। बौद्धों का अन्य प्राचीन दर्शन-सांख्य, वैशेषिक, न्याय, मीमांसक आदि से मौलिक भेद है। दर्शन और न्याय के क्षेत्र में मौलिक अन्तर का कारण बौद्धों का वेद, ईश्वर, आत्मा आदि का विरोध मात्र नहीं है, प्रत्युत् अनित्यता, क्षणभंगता, शून्यता, विज्ञप्तिमात्रता आदि की स्थापना है एवं जैनदर्शन का नय एवं अनेकान्तवाद है।

(क) जैन प्रमाण मीमांसा-

अधिगम अर्थात् ज्ञान प्राप्ति के दो साधन हैं - (१) प्रमाण और (२) नय। प्रमाण समग्र वस्तु को अखण्ड रूप से ग्रहण करता है और नय प्रमाण द्वारा गृहीत वस्तु के किसी अंश विशेष को जानता है। प्रमाण ज्ञान को माना जाता है और ज्ञान सामान्य धर्म है- अपने स्वरूप को जानते हुए पर पदार्थ को जानना, संवेदी होना, ज्ञान का सामान्य धर्म है। यदि ज्ञान को 'स्व' स्वरूप का अवबोधक न माना जाय, तो वह पर पदार्थों का भी अवबोधक नहीं हो सकता है। जो अपने स्वरूप का ही प्रतिभास करने में असमर्थ है, वह पर का अवबोधक कैसे हो सकता है। स्व स्वरूप की दृष्टि से सभी ज्ञान प्रमाण हैं। प्रमाणता और अप्रमाणता का विभाग बाह्य अर्थ की प्राप्ति और अप्राप्ति से सम्बन्ध रखता है।

प्रमाण का सामान्य अर्थ 'प्रमीयते येन तत् प्रमाणम्' -अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थों का ज्ञान हो, उस द्वार का नाम प्रमाण है। यही कारण है कि 'प्रमा' के साधकतम करण को प्रमाण कहा जाता है। जैनदर्शन में साधकतम ज्ञान माना गया है, सन्निकर्षादि नहीं। यतः सन्निकर्षादि के रहने पर भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता और सन्निकर्षादि के अभाव में भी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, अतः जानने रूप क्रिया का साक्षात् कारण ज्ञान ही है।

प्रमाण मीमांसा का विषय बहुत व्यापक है। प्रमाण उसकी प्रमाणता एवं प्रमाणता की उत्पत्ति के कारणं, प्रमाण के भेद-प्रभेद आदि के वर्णन के साथ विपर्यय ज्ञान स्वरूप का विचार भी प्रमाण मीमांसा में किया जाता है। जैन दर्शन के आलोक में प्रमाण मीमांसा के अन्तर्गत निम्नलिखित विषयों का विचार किया जाता है-

१. ज्ञान का स्वरूप, उत्पत्ति की प्रक्रिया, ज्ञान, ज्ञेय का सम्बन्ध, तदाकारता, ज्ञान और अनुभूति, इन्द्रिय प्राप्ति का क्रम, शरीर-मन का सम्बन्ध, ज्ञान के भेद, प्रमाण विमर्श, प्रामाण्य विचार, प्रमाण के भेद आदि।

२. नय, स्वरूप एवं भेद-प्रभेद आदि।

३. स्याद्वाद सिद्धान्त

४. सप्तभंगी।

५. निक्षेप विचार।

आचार्य समन्तभद्र कहते हैं-

तत्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम्।।

- आप्तमीमांसा कारिका-१०१

तत्वज्ञान दो प्रकार से होता है यथा- मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय आदि क्रमभाव से तथा कैवल्य की स्थिति में एक साथ पदार्थ को जानना अक्रमभावी ज्ञान है। यह ज्ञान स्याद्वाद और नय से युक्त है। स्वयंभूस्तोत्र में आचार्य समन्तभद्र प्रमाण की परिभाषा देते है-

'स्वपरावभासकं प्रमाणं यथा प्रमाणं भुविबुद्धि लक्षणम्'

सिद्धसेन दिवाकर ने प्रमाण के लक्षण में कहा है- 'प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितं'' अर्थात् स्वपर को जानने वाला बाधा से रहित ज्ञान प्रमाण है किन्तु आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाण का लक्षण करते हुए कहा 'सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्' अर्थात् ठीक-ठीक अर्थ का निर्णय प्रमाण है। प्रमाण का अर्थ है संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित ज्ञान। इस तरह जैन एवं बौद्ध दोनों परम्पराओं में प्रमाणविषयक व्यापक विचारविमर्श है।

सर्वार्थसिद्धि में कहा गया है 'प्रमिणोति प्रमीयतेऽनेन प्रमिति मात्रं वा प्रमाणम्।'[१] अर्थात् जो अच्छी तरह ज्ञान करता है, जिसके द्वारा अच्छी तरह ज्ञान किया जाता है या प्रमिति मात्र प्रमाण है। तिलोयपण्णत्ति में स्पष्ट रूप में कह दिया गया है- 'णाणं होदि पमाणं'[२] अर्थात् ज्ञान ही प्रमाण हैं इनमें भी सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है, मिथ्याज्ञान नहीं। श्लोक वार्तिक में कहा है-

मिथ्याज्ञानं प्रमाणं न सम्यगित्यधिकारः।
यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता।[३]

इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है। अन्य आचार्यों का चिन्तन इसी केन्द्र बिन्दु के आस-पास घूमता रहा है। आचार्य समन्तभद्र[४] ने स्वपरावभासी ज्ञान को प्रमाण बताया है। न्यायावतार के कर्ता सिद्धसेन[५] ने इसमें बाधारहित विशेषण कहा है, अर्थात् स्वपरावभासी बाधारहित ज्ञान बतलाया। जैन न्याय के प्रस्थापक अकलंकदेव ने कहीं तो स्वपरावभासी व्यवसायात्मक ज्ञान[६] को प्रमाण बतलाया है और कहीं

'अनधिगतार्थ अविसंवादि ज्ञान'[७] को प्रमाण बतलाया हैं। आचार्य विद्यानंद[८] ने सम्यग्ज्ञान को प्रमाण बतलाकर 'स्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञान को सम्यग्ज्ञान बतलाया है। उन्होंने 'अनधिगत' पद को छोड़ दिया है। आचार्य माणिक्यनन्दि ने स्व और अपूर्व अर्थ के व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण बताकर एक प्रकार से आचार्य समन्तभद्र और अकलंक देव का ही समर्थन किया है।

जैनदर्शन के अनुसार प्रामाण्य स्वतः व परतः दोनों प्रकार से होता है। श्लोक वार्तिक में कहा गया है-

तत्राश्यासात्प्रमाणत्वं निश्चितं स्वतः एव न। अनभ्यासे तु परतः इत्याहुः।[८]
अर्थात् अभ्यास दशा में ज्ञानस्वरूप का निर्णय करते समय ही युगपत् उसके प्रमाणपन का भी निर्णय कर लिया जाता है, परन्तु अनभ्यासदशा में दूसरे कारणों से (परतः) ही प्रमाणपना जाना जाता है।

जैन दर्शन आत्मवादी दर्शन है अतः उसकी दृष्टि में आत्मा ही प्रामाण्य है, ज्ञान नहीं। इस विषय में धवला में कहा गया है-

'ज्ञानस्यैव प्रामाण्यं किमिति नेष्यते। न, जानाति परिछिनत्ति जीवादिपदार्थानिति ज्ञानात्मा, तस्यैव प्रामाण्याभ्युपगमात्। न ज्ञानपर्यायस्य स्थितिरहितस्य उत्पाद-विनाशलक्षणस्य प्रामाण्यम्, तत्र त्रिलक्षणाभावतः। अवस्तुनि परिच्छेदलक्षणार्थ क्रियाभावात्, स्मृति-प्रत्यभिज्ञानुसंधान प्रत्ययासदीनामभाव-प्रसंगाच्च।'[६]

अर्थात्- ज्ञान को ही प्रमाण स्वीकार क्यों नहीं करते ? उत्तर देते हुए कहा है-नहीं, क्योंकि 'जानातीति ज्ञानम्' इस निरुक्ति के अनुसार जो जीवादि पदार्थों को जानता है, वह ज्ञान अर्थात् आत्मा है। उसी को प्रमाण स्वीकार किया गया है। उत्पाद व व्यय स्वरूप किन्तु स्थिति से रहित ज्ञान पर्याय की प्रमाणता स्वीकार नहीं की गयी, क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप लक्षणत्रय का अभाव होने के कारण अवस्तु स्वरूप को प्रमाणता स्वीकार करने पर स्मृति, प्रत्यभिज्ञान व अनुसंधान प्रत्ययों के अभाव का प्रसंग आता है।

प्रमाण के भेद- प्रमाणों की संख्या के विषय में भी भारतीय दार्शनिक एकमत नहीं हैं। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। बौद्ध दर्शन प्रत्यक्ष व अनुमान दो प्रमाण मानता है। सांख्य दर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणों को स्वीकार करता है। न्यायदर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम व उपमान इन चार प्रमाणों को मानता है। प्रभाकर मतानुयायी प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान व अर्थापत्ति इन पाँच को मानते है।

जैमिनी (मीमांसा दर्शन) प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव इन छह प्रमाणों को मानता है।

जैन दर्शन प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो ही प्रमाणों को मानता है। पं. कैलाशचंद्र जी शास्त्री का कथन है कि प्रमाण की चर्चा दार्शनिक युग की ही देन है। इसी से कुन्दकुन्द के प्रवचनसार में ज्ञान और ज्ञेय की चर्चा होने पर भी प्रमाण और प्रमेय शब्द नहीं मिलते। अतः कुन्दकुन्द ने ज्ञान के दो ही भेद किये हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष, किन्तु कुन्दकुन्द की ही परम्परा में प्रवचनसार के पश्चात् रचे गये तत्त्वार्थ सूत्र नामक सूत्रग्रन्थ में, ज्ञान को ही प्रमाण बतलाकर उसके दो भेद प्रत्यक्ष और परोक्ष किये हैं। यहीं से जैन दर्शन में प्रमाण की चर्चा का सूत्रपात हुआ है।[9]

जैन दर्शन में ज्ञान के पाँच भेद स्वीकार किये गये हैं - मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। यही मौलिक जैन परम्परा है। अतः अन्य किसी दर्शन में ये भेद नहीं पाये जाते। दूसरे जैन कर्म सिद्धान्त में ज्ञान का आवरण करने वाले ज्ञानावरणीय कर्म के पाँच भेद इन्हीं भेदों को आधार मानकर किये गये हैं। ये हैं-मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण। तत्त्वार्थसूत्र में इन पाँच भेदों का कथन करके पहले इन्हें प्रमाण बताया है, फिर प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष में इन पाँचों का विभाजन करते हुए मति और श्रुत को परोक्ष प्रमाण तथा शेष तीन ज्ञानों को प्रत्यक्ष प्रमाण बताया है। यथा-

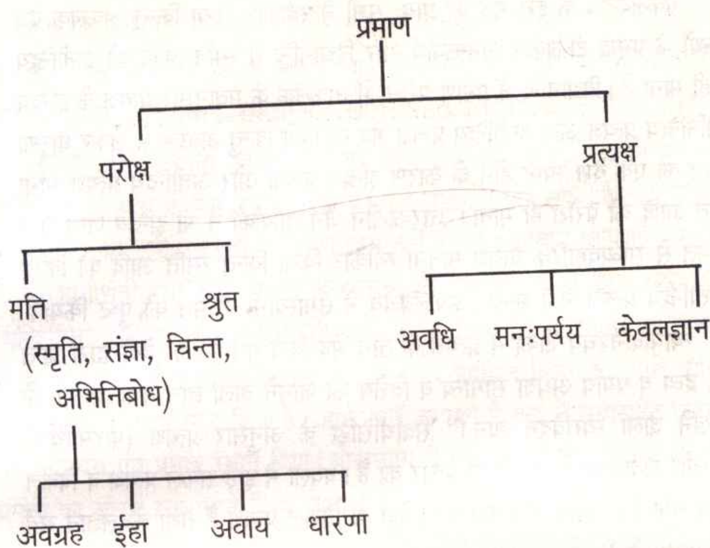
मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलानि-ज्ञानम्।
तत्प्रमाणे।
आद्ये परोक्षम्
प्रत्यक्षमन्यत्।[10]

अर्थात् मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान ही प्रमाण हैं। ये सभी दो प्रमाण स्वरूप हैं। पहले के दो अर्थात् मति और श्रुत परोक्ष हैं तथा शेष अवधि मनःपर्यय और केवल ये तीन प्रत्यक्ष हैं।

तत्त्वार्थसूत्रकार ने ही मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध नामक ज्ञानों को अनर्थान्तर कहा है-

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।[11]

इस प्रकार आचार्य उमास्वामी ने अपने समय में प्रचलित स्मृतिः प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान आदि प्रमाणों का अन्तर्भाव मतिज्ञान में किया।



जैन न्याय प्रतिष्ठापक आचार्य अकलंकदेव ने तत्त्वार्थसूत्र के 'तत्प्रमाणे' सूत्र को आधार मानकर प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो ही भेद किये किन्तु अप्रत्यक्ष के सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और मुख्य प्रत्यक्ष ये दो भेद कर दिये। इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले मतिज्ञान को परोक्ष की परिधि में से दिखाकर तथा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम देकर प्रत्यक्ष की परिधि में सम्मिलित कर लिया। प्राचीन जैन परम्परा इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान को परोक्ष कहती थी और इतर दार्शनिक उसे प्रत्यक्ष कहते थे किन्तु उसे सांव्यवहारिक अर्थात् लौकिक प्रत्यक्ष नाम देने से जैन परम्परा का पालन किया गया।

स्मृति आदि प्रमाणों को अकलंकदेव ने सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में भी अन्तर्भूत किया और परोक्ष श्रुतज्ञान में भी। जब तक इनमें शब्द का संसर्ग न हो तब तक इन्हें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना जायगा। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के भी दो भेद किये गये हैं। इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। इन्द्रिय प्रत्यक्ष में मतिज्ञान और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष में स्मृति आदि आते हैं क्योंकि उनमें मन का व्यापार ही प्रधान होता है, परन्तु यदि ये स्मृति आदि शब्द का संसर्ग लिए हुए हों तो उनका अन्तर्भाव परोक्ष श्रुतज्ञान में किया गया है। अकलंक ने जो स्मृति आदि प्रमाणों को अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष बतलाया उसके मूल में उनकी केवल एक ही दृष्टि थी, वह थी सूत्रकार का उन्हें मति से अनर्थान्तर बतलाना अतः जब मतिज्ञान को इन्द्रिय प्रत्यक्ष माना गया तो उसके सहयोग स्मृति आदि को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत लेना ही चाहिए।

अकलंकदेव के इस मत को प्रायः सभी ने स्वीकार किया किन्तु अकलंक देव के ही ग्रन्थों के प्रमुख टीकाकार अनन्तवीर्य और विद्यानन्दि ने स्मृति आदि को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं माना है। विद्यानन्दि ने प्रमाण परीक्षा में अकलंक के मतानुसार प्रत्यक्ष के इन्द्रिय प्रत्यक्ष अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष भेद तो किये किन्तु अवग्रह से लेकर धारणा पर्यन्त ज्ञान को एक देश स्पष्ट होने के कारण इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष माना तथा स्मृति आदि को परोक्ष ही माना। उत्तरकालीन जैन तार्किकों ने भी इन्द्रिय जन्य ज्ञान को एक मत से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मानना स्वीकार किया किन्तु स्मृति आदि को किसी ने भी अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं माना। अकलंकदेव ने उमास्वामी के मत को पुष्ट किया।

न्यायविनिश्चय टीका में प्रत्यक्ष के तीन भेद किये गये हैं- १. देवों द्वारा प्राप्त दिव्यज्ञान, द्रव्य व पर्याय अथवा सामान्य व विशेष को जानने वाला ज्ञान तथा आत्मा को प्रत्यक्ष देखने वाला स्वसंवेदन ज्ञान।[१२] 'सर्वार्थसिद्धि के अनुसार प्रत्यक्ष (पारमार्थिक) देशप्रत्यक्ष और सर्वप्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार का हैं। धवला में इन्हें सकल प्रत्यक्ष व विकल प्रत्यक्ष कहा गया है। अवधि और मनःपर्यय देश या विकल प्रत्यक्ष हैं तथा केवलज्ञान सर्व या सकल प्रत्यक्ष है।[१३]

इस प्रकार जैन दर्शन में प्रमाण की विस्तृत चर्चा की गई है जो मोक्षमार्ग में उपादेय है।

(ख) बौद्ध प्रमाण मीमांसा

बौद्धेतर दर्शनों में वैशेषिक, गौतमीय, मीमांसक जैन आदि प्रमाणों की मीमांसा के लिए प्रमेय के सम्बन्ध में वस्तु-सत्तावादी है। बौद्ध नैयायिक-सर्वास्तिवादी, वैभाषिक और सौत्रान्तिक आदि का वस्तुवाद (बाह्यार्थवाद) वैशेषिक आदि के समान स्थित या नित्य नहीं है प्रत्युत् क्षणभंगी तथा सर्वथा अनित्य है, किन्तु बौद्धन्याय का उत्कर्ष तब होता है जब अवस्तुवादी बौद्धों ने उसे अपना क्षेत्र बनाया।

बौद्धों की विशेषता है कि प्रमेयों की वस्तुसत्ता न स्वीकार करते हुए भी प्रमाणव्यवस्थापन करते हैं। उनकी दृष्टि में प्रमाणव्यवस्था विशुद्ध रूप से ज्ञान क्षेत्र की समस्या है। दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध नैयायिक विज्ञानवादी हैं जो बाह्यार्थ को स्वीकार न करते हुए भी ऐसी प्रमाण व्यवस्था करते हैं जो बाह्यार्थवादी को भी सहमत है-

अस्त्येव विदुषां वादो बाह्यं त्वाश्रित्य वर्ण्यते।
द्वैरूप्यं सहसंवित्तिनियमात् तच्च सिद्ध्यति।। - प्रमाणवार्तिक २/३९८

पण्डित जगन्नाथ उपाध्याय त्रिपिटक के विविधसुत्तों में प्रभावकारी प्रवचनों एवं तर्कपूर्ण शैली में वाद विधि के संदर्भ देखते हैं। उदान के आयुसंखारोपम सुत्त में बुद्ध के

अतिवृद्ध हो जाने पर मार कहता है कि अब आप आयुसंस्कार समाप्त कर निर्वाण लाभ कर लें। उसके उत्तर में बुद्ध ने कहा- न तावहं पामिम, परिनिब्बयिस्सामि याव मे भिक्खु उप्पन्नं परप्पवादं सहधम्मेन सुनिग्गहितं निग्गहेत्वा सप्पाटिहारियं धम्मं देसेस्सन्ती' ति। अर्थात् जब तक हमारे भिक्षु तर्क और युक्ति में इतने पटु नहीं हो जायेंगे कि प्रतिपक्षियों द्वारा उठाये प्रश्नों का पूर्ण समाधान कर सकें और अपने सिद्धान्त को स्थापित कर सकें तब तक मैं निर्वाण लाभ नहीं करूँगा। आचार्य धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक में बौद्धप्रमाणमीमांसा का सम्बन्ध बुद्धवचनों से स्थापित करते हुए कहते हैं कि- 'यत्किञ्चिद उदयधर्मकं तत्सर्वं निरोधधर्मं' वचनों द्वारा बुद्ध ने उत्पत्ति एवं निरोध रूप साध्य-साधन के बीच व्याप्ति बताकर अनुमान को प्रदर्शित किया है। इससे व्यक्ति का अविनाभावित्व लक्षण स्फुट किया है। आर्यअष्टांगिक मार्ग में बुद्ध ने सम्यग्दृष्टि (सम्मादिट्ठि) को सर्वप्रथम एवं प्रमुख स्थान दिया। बौद्धन्याय में इसी सम्मादिट्ठि का विकास हुआ है। प्रमाण का लक्षण सम्यग्ज्ञान किया जाता है।

-शाब्दज्ञान में वक्ता के अभिप्रेत अर्थ का निवेदन होने के कारण प्रमाणता मानी जाती है।

- वस्तु के ज्ञान का जो अर्थ के साथ सारूप्य है वह प्रमाण है। -न्यायबिन्दु

- स्वसंवेदन विचार का प्रवेश और उसके द्वारा ज्ञान सामान्य में स्व पर प्रकाश का अवबोध तथा विषय की अधिगति या समझ को प्रमाण का फल कहा जाता है।

- शान्तिरक्षित

- अपूर्व विषय सम्यक्ज्ञान अर्थात् वह यथार्थ ज्ञान जिसका विषय पूर्व में ज्ञात न हो, प्रमाण कहलाता है। - मोक्षांकर गुप्त

अविसंवादी- अर्थ की क्रिया का ज्ञान अविसंवाद है (न्यायबिन्दु)

अविसंवाद=जिसमें विसंवाद न हो, यह संवाद नहीं है। बौद्ध क्षणभंगवादी है, अतः उनकी दृष्टि में किसी वस्तु की सत्ता का अर्थ है-उत्पत्ति के अनन्तर ही उसका विनाश, क्योंकि उनके मत में सत् होने के कारण उत्पत्ति सहेतुक और असत् होने के कारण विनाश अहेतुक होता है। उत्पत्त्यनन्तर विनाश को वह क्षण शब्द से कहते हैं।

ज्ञान जिस वस्तु का ग्रहण करता है, उसी का वह निश्चय नहीं करता और न उसे प्राप्त ही करता है, क्योंकि वस्तु क्षणिक होने के कारण उत्पन्न होकर विनष्ट हो चुकती है। अतः दूसरा देखा जाता है और दूसरा प्राप्त किया जाता है किन्तु निरन्तर भिन्न-भिन्न सजातीय वस्तुक्षणों की उत्पत्ति के कारण एकत्व निश्चय होता हैं एकत्वाध्यवसाय से ज्ञान का प्रमात्व या सम्यक्त्व निश्चित होता है और इसी से सभी व्यवहार प्रामाणिक बनते हैं।

ज्ञान का अर्थ के साथ संवाद केवल इस अर्थ में होता है कि केवल इस अर्थ में ज्ञान अर्थ को ग्रहण करता है। इस अर्थ में नहीं कि वह गृहीत अर्थ का निश्चय भी करता है।

अपूर्वगोचरत्व-

क्षणभंगवाद में प्रत्येक प्रमाणज्ञान अपूर्व विषय का ग्रहण करता है, जो पहले से ज्ञात नहीं हैं। इसलिए जो ज्ञान पहले से ज्ञात अर्थ का ज्ञापन करेगा वह प्रमाण नहीं होगा। नैयायिकों का स्थिर वस्तुवाद में तत् में तत्प्रकारक ज्ञान संभव होता है। बौद्धों की क्षणिकता की दृष्टि से वस्तुतः असत् में ही तत् का निश्चय होता है।

ज्ञान के प्रामाण्य के प्रसंग में जब बौद्ध उसके प्रवर्तक होने या अर्थप्रापक होने की चर्चा करते हैं तो उसका अभिप्राय विशेष बोध या अधिगति से भिन्न नहीं होता। अविसंवादित्व की कसौटी अर्थक्रियाकारित्व है, अर्थक्रियाकारित्व ज्ञेय का स्वरूपावबोध मात्र हैं, यही प्रमा की प्रवर्तनता या प्रापकता है। इस प्रकार अर्थवत्ता सामान्यतया प्रमात्व या सम्यग्ज्ञान के लिए आवश्यक है।

स्वतः प्रामाण्यवादी

यहाँ ज्ञेयस्वरूपावबोध ही अर्थक्रियाकारित्व है और उसके आधार पर ही ज्ञान का अविसंवादित्व या सम्यक्त्व निश्चित होता है। सभी ज्ञान अपनी उत्पत्ति के साधनों के आधार पर स्वतः ही प्रमाण हो जाते है।

मीमांसक एवं सांख्य को छोड़कर प्रायः सभी परतः प्रमाण्यवादी हैं। नैयायिक और कुमारिल की तरह ज्ञान को परवेद्य नहीं मानते प्रत्युत् स्वसंविद मानते हैं।

स्वसंवादिति मानकर भी उसके प्रामाण्य के सम्बन्ध में स्वतत्त्व से बंधे नहीं है। अनियमवादी कहा गया है।

किसी विषय के सम्बन्ध में यदि पहले से ज्ञाता को अभ्यास है, जैसा कि जौहरी को विभिन्न मणियों की पहचान में, प्रमाण में स्वतः आ जाता है।

अनभ्यस्त दशा में प्रमाण संन्दिग्ध रहता है, इसलिए वहाँ स्वातिरिक्त अर्थक्रिया ज्ञान अथवा अनुमान की अपेक्षा होगी। प्रमाण के लक्षण की तरह उनकी संख्या, विषय, प्रमाणफल के सम्बन्ध में भी अन्यदार्शनिकों से बौद्धों का मतभेद है।

प्रमाणसंख्या

बौद्धेतर दार्शनिक मानाधीनामेयसिद्धि अर्थात् प्रमेयों का निर्धारण प्रमाणों के अधीन मानते हैं किन्तु बौद्ध आचार्य प्रमेयों के आधार पर प्रमाणों को नियंत्रित करते हैं। मेयाधीना मानसिद्धिः का सिद्धान्त मान्य है।

यहाँ प्रमाण के दो विषय मान्य हैं-स्वलक्षण और सामान्यलक्षण। जब दो ही विषय हैं तो उनके ग्राहक प्रमाण भी दो ही होने चाहिए। स्वलक्षण को ग्रहण करने वाला प्रत्यक्ष तथा सामान्य लक्षण को ग्रहण करने वाला अनुमान।

नैयायिक और मीमांसकादि की तरह बौद्ध सामान्य विशेषात्मक कोई पदार्थ नहीं मानते, क्योंकि वे परस्पर में विरोधी है।

नैयायिकादि प्रमाणों की संख्या और विषय के सम्बन्ध में कोई व्यवस्था नहीं मानते। इनके अनुसार प्रत्यक्ष विशेष के साथ सामान्य का भी ग्रहण करता है और अनुमान भी। एक विषय को अनेक प्रमाण ग्रहण करते हैं और विषय अनेक प्रमाणों द्वारा ज्ञात होता है।

बौद्ध साङ्कर्य के पक्षपाती नहीं है, प्रमाण अपने निश्चित प्रमेय को ही ग्रहण करता है। एक प्रमेय के अनेक प्रमाण ग्राहक नहीं हो सकते, अन्यथा प्रमेय व्यवस्था नहीं बनेगी।

यहाँ नैयायिकादि 'विप्लववादी' या सांकर्यवादी है तथा बौद्ध व्यवस्थावादी हैं।[१५]

बौद्ध परम्परा में स्वलक्षण और सामान्यलक्षण दो ही विषय और उनके ग्राहक क्रमशः प्रत्यक्ष और अनुमान को मानते हैं।

स्वलक्षण का अर्थ है= स्व-असाधारण, लक्षण=तत्त्व या स्वरूप, अर्थात् वस्तु का असाधारण स्वरूप या एकमात्र विशेष।

सामान्य लक्षण= साधारण या समारोपित तत्त्व का स्वरूप। विषय दो प्रकार के होते हैं-सदृश और असदृश। स्वलक्षण वस्तु का असदृश तत्त्व है क्योंकि वह सर्वतो व्यावृत होकर स्वनिष्ठ होता है। स्वलक्षण शब्द द्वारा बोधित नहीं होता, सामान्य शब्द विषय बनता है। स्वलक्षण अपनी उपस्थिति अनुपस्थिति से ज्ञान प्रतिभास में भेद उत्पन्न करता है। सामान्य आरोपित होता है, इसलिए इसके सन्निधान असन्निधान से न तो ज्ञान प्रतिभास में भेद उत्पन्न होता है और न उसके ज्ञान में स्फुटता या अस्फुटता ही आती है।

सौत्रान्तिकों के मत में स्वलक्षण की परमार्थ सत्ता मानी जाती है सामान्य लक्षण की सांवृतिक या काल्पनिक।

स्वलक्षण की परमार्थसत्ता इसलिए मानी जाती है कि वह अर्थ-क्रिया में समर्थ होता है अर्थात् उसके कारण ज्ञान को स्पष्ट आकार मिलता है। सामान्य अर्थक्रिया में अशक्त इसलिए होता है कि वह विध्यात्मक रूप से नहीं प्रत्युत् इतरव्यावृत्ति के माध्यम से कल्पित संकेत द्वारा वस्तु का निश्चय कराता है। अर्थक्रिया की शक्तता अशक्तता के आधार पर वस्तु का स्वलक्षण और सामान्यलक्षण का विभाजन है। यहाँ पर सामान्य अर्थक्रिया के द्विचन्द्रदर्शन-भ्रम नहीं होता, जहाँ भ्रम होगा अर्थबुद्धि नहीं होती सामान्य लक्षण भी होगा।

प्रत्येक वस्तु के दो तत्त्व होते हैं-एक असाधारण दूसरा साधारण। इन्हें क्रमशः प्रत्यक्ष और अनुमान ही पृथक् पृथक् रूप से ग्रहण करते हैं- प्रमाण का एक ग्राहृय विषय दूसरा अध्यवसेय। ग्राहृय और अध्यवसेय भिन्न-भिन्न होते हैं। ग्राह्य स्वलक्षण होता है अध्यवसेय सामान्यलक्षण। प्रत्यक्ष का ग्राह्य घट स्वलक्षण है और उसके अनन्तर एक बौद्धिक विकल्प होता है, जिससे वह घट स्वभिन्न सकल वस्तुओं से व्यावृत्त किया जाता है, यह व्यावृत्ति सामान्य है जिसके आधार पर यह निश्चय होता है कि यह निश्चयेन घट है। इस व्यावृत्ति से वस्तु ही व्यावृत्त की जा सकती है, कभी भी अवस्तु व्यावृत्त नहीं होती, इसलिए सामान्य व्यावृत्ति रूप है किन्तु अवस्तु नहीं है, यद्यपि स्वलक्षण की तरह परमार्थवत् वस्तु भी नहीं है कि वह प्रमाणों का ग्राह्य बन सके।

प्रत्यक्ष की तरह अनुमान के भी ग्राह्य और अध्यवसेय दो भिन्न विषय होते हैं। प्रत्यक्ष से इसकी ग्राहता में अन्तर केवल इतना ही है कि प्रत्यक्ष का दृश्य साक्षात् एवं स्फुट होता है किन्तु अनुमान का ग्राहृय आरोपित होने के कारण दृश्यत्वेन कल्पित होता है अनन्तर इतर व्यावृत्ति के माध्यम से व्याप्ति द्वारा अदृश्य साध्य का निश्चय होता है।

प्रमाण लक्षण

अर्थसारूप्य- अर्थ के साथ ज्ञान का जो सादृश्य होता है, वही प्रमाण है अर्थात् जिस विषय से जो ज्ञान उत्पन्न है, वह उस विषय के सदृश होता है। यह प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों पर लागू होता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान में-प्रत्यक्ष से जब नील सादृश्य ज्ञान अनुभूत होता है तब यह नील है इस प्रकार का ज्ञान व्यवस्थापित होता है। अनुमान ज्ञान भी नीलाकार उत्पन्न होकर नीलबोध निश्चित करता है। इस सारूप्य लक्षण प्रमाण से स्पष्ट होता है कि बुद्धि ही प्रमाण है, इन्द्रियादि प्रमाण नहीं है जैसा कि नैयायिकादि स्वीकार करते हैं।

बौद्ध कहते हैं कि हेय या उपादेय वस्तु के त्याग का ग्रहण करने का अतिशय साधक ही है, अतः वही प्रमाण है। इन्द्रिय के रहते हुए भी प्रवृत्ति नहीं होती यदि तद्विषयक बुद्धि न हो। यह ठीक है कि प्रत्येक अर्थ और प्रत्येक इन्द्रिय के भेद से ज्ञान का भेद होता है तथापि विषय सारूप्य के बिना ज्ञान विशेष निर्दिष्ट ही नहीं हो सकता।

बौद्ध परम्परा में प्रमाण के दो भेद हैं- प्रत्यक्ष तथा अनुमान। अन्य दर्शन समस्त शब्दादि प्रमाणों का या तो प्रामाण्य ही नहीं है या अनुमान में ही अन्तर्भाव समझा जाता है।

प्रत्यक्षप्रमाण- कल्पनापोढ़ तथा अभ्रान्त ज्ञान प्रत्यक्ष कहा है। कल्पना से अपेत या रहित कल्पनापोढ़ कहलाता है। अभिलाप संसर्ग के योग्य प्रतिभास वाली प्रतीति

को कल्पना कहते हैं। जिसमें कथन किया जाय वह अभिलाप है। अभिलाप शब्द को कहते हैं। अभिलाप शब्द के साथ जो संसर्ग, उस संसर्ग के योग्य प्रतिभास जिस प्रतीति में हो वह प्रतीति या ज्ञान कल्पना है।

जैसे घट शब्द से घट का ज्ञान होता है वह ज्ञान कल्पना है। वह घटाकार ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है, अपितु शब्द के द्वारा उपस्थित है, वह विज्ञान शब्द तथा उसके अभिधेय अर्थ घट को ही ग्राह्य या विषय करता है, उस ज्ञान को विकल्प कहेंगे।

प्रत्यक्ष वैसा नहीं है, वह विज्ञानचक्षुरादिसंनिहितार्थ मात्र का ग्राही होता है। अर्थ ही विज्ञान के आकार के नियम का हेतु है। अर्थ के बिना विज्ञान के आकार का नियमन नहीं हो सकता है।

अभ्रान्त का अर्थ भ्रम से रहित है। भ्रम कॉच, तैमिरक आदि नेत्र दोष से सम्भव होता है। वह भ्रम ज्ञान बाधित विषयक होता है, अतः संवादि ज्ञान नहीं है।

प्रत्यक्ष के भेद–

प्रत्यक्ष ज्ञान चार प्रकार का होता है। इन्द्रियज्ञान, मनोविज्ञान, आत्मसंवेदन और योगिज्ञान।

इन्द्रियज्ञान–

इन्द्रियज्ञान के आश्रित विज्ञान को इन्द्रियज्ञान कहते हैं। इन्द्रियां हैं– चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, रसना और घ्राण..

मनोविज्ञान–

इन्द्रियविज्ञान के विषय के अनन्तर क्षणवर्ति विषय से सहकृत इन्द्रियविज्ञानरूप समनन्तरप्रत्यय से जायमान ज्ञान मनोविज्ञान है।

जो घट जिस क्षण में इन्द्रिय ज्ञान का विषय होता है उसके अव्यवहितेतर या द्वितीयपक्ष में वह नष्ट होता है तथा उसी क्षण में घटान्तर उत्पन्न होता है। वह अग्रिम क्षण में नष्ट होता है उसी क्षण में घटानन्तर उत्पन्न होता है, इसी तरह घट सन्तान चलता है।

प्रथम क्षण में जो इन्द्रिय विज्ञान का विषय घट है, उसके अनन्तर क्षण में उत्पन्न घट ही जिसका सहकारी कारण हैं तथा इन्द्रिय विज्ञान ही समनन्तर कारण है। उस विज्ञान को मनोविज्ञान कहते हैं। आलम्बन, अधिपति, सहकारी तथा समनन्तर प्रत्यय से विज्ञान उत्पन्न होता हैं

मनोविज्ञान का इन्द्रियज्ञान समनन्तर प्रत्यय हैं तथा इन्द्रिय ज्ञानीय विषय से अव्यहितेतर क्षणोत्पन्न विषय ही सहकारी प्रत्यय है। इसतरह इन्द्रियज्ञान विषय के

अव्यवहितेतर विषय से सहकृत इन्द्रिय ज्ञानरूप समनन्तर प्रत्यय से मनोविज्ञान उत्पन्न होता है। यह ज्ञान नैयायिक के अनुव्यवसाय के तुल्य है।

इन्द्रिय विज्ञान और अनन्तर क्षणोत्पन्न मनोविज्ञान दोनों का विषय एक नहीं है। क्षणभेद से विषयभेद भी भिन्न-भिन्न हैं। यह मनोविज्ञान इन्द्रिय व्यापार के उपरत होने पर ही इष्ट है। नेत्रादि व्यापार के रहते वह इन्द्रिय ज्ञान ही कहलाएगा।

आत्मसंवेदन प्रत्यक्ष-

सर्वचित्तचैत्तात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम् (न्यायबिन्दु) सभी चित्त चैत्त का आत्मसंवेदन प्रत्यक्ष हैं। चित्त अर्थमात्र का ग्राही आलयविज्ञान है। चैत्त विशेषावस्था ग्राही सुखदुःखादि है। चित्त चैत्त विज्ञान प्रत्यक्ष हैं। चित्त की कोई अवस्था नहीं, जिसमें आत्मसंवेदन न हो। जिस रूप से आत्मविदित होता है वह आत्मसंवेदन है। यह प्रत्यक्ष है, यह आत्मसंवेदन ज्ञान साक्षात्कारि अभ्रान्त है, अतः प्रत्यक्ष है।

योगी प्रत्यक्षं- भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानम् -न्यायबिन्दु

सिद्ध अर्थ की भावना का प्रकर्ष स्फुटावभास का जो चरमोत्कर्ष हो, उससे जायमान ज्ञान योगिप्रयत्क्ष हैं

प्रंमाण से दृष्ट सद्भूत अर्थ भूतार्थ है।

भूतार्थ की जो भावना अर्थात् पुनः पुनः चित्त में निवेश करना, उस भावना का जो प्रकर्ष अर्थात् भव्यमान अर्थ से अकारित ज्ञान का स्फुटतारम्भ उसका जो पर्यन्त अर्थात् ज्ञान की सम्पूर्ण अवस्था से प्राक्क्षणवर्तिस्फुटत्व, उससे जायमान जो पूर्ण स्फुट ज्ञान है, वह योगिप्रत्यक्ष कहलाता है।

योगी प्रमाण से सिद्ध अर्थ का पुनः पुनः अनुसन्धान कर उसको पूर्ण रूप से हृदयंगम कर लेता है।

अनुमान प्रमाण

नीलाकार अनुमान का नीलप्रतीति फल है। यह प्रतीतिं विकल्परूप है। विषय सारूप्य के कारण प्रतीति रूप है, अनुमान में नीलादिसारूप्य ही प्रमाण है।

लिंग ग्रहण और व्याप्ति स्मरण के पश्चात् जो प्रवृत्त हो उसको अनुमान कहते हैं। मान प्रमाण को कहते हैं।

साध्य-साधन के नियम सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं।

पक्ष में लिंग दर्शन को पक्षधर्मता कहते हैं। जैसे पर्वत बह्निमान है धूम होने से, इस अनुमान में धूमवाला पर्वत है। ऐसा ज्ञान पक्षधर्मता ज्ञान है। धूम बह्नि ही व्याप्य है, ऐसां ज्ञान व्याप्ति ज्ञान है।

बह्नि से व्याप्य धूमवाला पर्वत है, यह ज्ञान जो व्याप्ति से विशिष्ट पक्षधर्मता का ज्ञान है वह परामर्श कहलाता है।

पक्षधर्मताज्ञान के बाद साध्य-साधन के अव्यभिचरित सम्बन्ध का रूप व्याप्ति के स्मरण होने पर अनन्तर काल में अनुमान होता है।

जैसे अर्थ के साथ अबिनाभाव से अव्यभिचरित सम्बन्ध से अर्थ का प्रापण कराता हुआ प्रत्यक्ष प्रमाण है। वैसे ही अर्थ के साथ अबिनाभाव से परिच्छिन्न अर्थ को प्रापण कराता हुआ अनुमान भी प्रमाण है।

वह अनुमान दो प्रकार का है- स्वार्थ तथा परार्थ।

स्वार्थानुमान-

त्रिरूप लिङ्ग से अनुमेय में ज्ञान स्वार्थानुमान है। जिससे अर्थ का ज्ञान हो वह लिङ्ग है। लिंगि धातु गत्यर्थ है, वह भ्वादि गण में पठित है। उससे लिङ्ग शब्द की निष्पत्ति हुई है। करण में या कर्ता में अच् प्रत्यय हुआ है। यहाँ अनुमेय से जिज्ञासित विशेषधर्मी पक्ष अभिप्रेत हैं जिज्ञासित अर्थात् जानने की इच्छा का विषयीभूत है, विशेषधर्म जिसका वह जिज्ञासितविशेषधर्मी पक्ष है। साध्य धर्म के समान धर्म वाला सपक्ष है, जो सपक्ष तथा पक्ष नहीं वह विपक्ष या असपक्ष है। इस प्रकार पक्षसत्त्व सपक्षसत्त्व विपक्षव्यावृत्तत्त्व इन तीन रूपों से सहित लिङ्ग, त्रिरूप कहलाता है। उस त्रिरूप लिङ्ग के तीन प्रकार हैं। अनुपलब्धि, स्वभाव तथा कार्य। उपलब्धि ज्ञान को कहते हैं। उपलब्धि से भिन्न अनुपलब्धि है।

प्रतिषेध्य साध्य की अनुपलब्धि, पक्षसत्त्व सपक्षसत्त्वादि पूर्वोक्त तीन प्रकार की होती है। इसी प्रकार विधेयसाध्य के स्वभाव भी उक्त रूप में त्रिधा होता है तथा कार्य भी उसी तरह त्रिरूप होता है।

अनुपलब्धि अर्थाभाव की आवेदिका है। स्वभाव और कार्य, भाव के आवेदक है। अनुपलब्धि का उदाहरण-

जैसे इस प्रदेश में घड़ा उपलब्ध नहीं है। उपलब्धि लक्षण प्राप्त की अनुपलब्धि होने से। यहाँ प्रदेशविशेषधर्मी पक्ष है तथा घटाभाव साध्य है। उपलब्धि लक्षण प्राप्त की अनुलब्धि हेतु है। उपलब्धि ज्ञान है। उसका लक्षण अर्थात् तज्जनक सामग्री से अनुपलब्धि लक्षित होती हैं अर्थात् उपलब्धि जनक सामग्री लक्षित अनुपलब्धि होने से इस प्रदेश में घट नहीं है, यह भाव है।

उपलब्धिलक्षणप्राप्ति, उपलम्भप्रत्ययान्तरसाकल्य तथा स्वभावविशेष को कहते हैं। वस्तु के उपलम्भ प्रत्यय चार हैं- अधिपति प्रत्यय, सहकारिप्रत्यय, समनन्तर प्रत्यय तथा आलम्बन प्रत्यय। उनमें आलम्बन प्रत्यय को छोड़कर शेष तीनों प्रत्ययों का समवधान,

उपलब्धिलक्षण प्राप्ति है अथवा स्वभाव विशेष उपलब्धि लक्षण प्राप्ति है। जो स्वभाव अन्य समनन्तरादि प्रत्ययों के रहने पर प्रत्यक्ष ही होता है, वह स्वभाव विशेष ही है। इस तरह अनुपलब्धि अभाव की आवेदिका है।

दूसरा लिङ्ग का भेद स्वभाव है। वह सत्तामात्र भाविसाध्य धर्म में हेतु होता है। जैसे यह वृक्ष है क्योंकि इसमें शिंशिपात्व है। यहाँ वृक्ष का शिंशिपात्व स्वभाव है। यहाँ हेतु सत्ता सें अतिरिक्त हेतु उच्चत्वादि अपेक्षित नहीं हैं, किन्तु शिंशिपात्व मात्र ही हेतु है। हेतु की सत्ता की अपेक्षा कर साध्य विद्यमान रहता है। वह स्वसत्तामात्रभावी साध्य वृक्ष हैं उस साध्य में जो शिंशपात्व हेतु है। वह साध्य का स्वभाव ही है। साध्य वृक्ष का धर्म ही शिंशिपात्व है। वह साध्य धर्म वृक्षत्व, शिंशिपात्व को छोड़कर अन्य किसी उच्चत्वादि धर्म की स्वसाधक हेतुत्वेन अपेक्षा नहीं करता है। यह हेतु स्वभाव है। तादात्म्य से प्रयोज्य है। साध्य का स्वभाव विशेष ही अर्थात् तादात्म्येनावस्थित साध्य धर्म ही साध्य की सिद्धि में हेतु होता है। वह हेतु, स्वभाव लिङ्ग कहलाता है।

तीसरा लिङ्ग भेद कार्य है। जैसे यहाँ अग्नि है क्योंकि यहाँ धूम है। धूम बह्नि का कार्य हैं, यह लोक में दृष्ट हैं, धूम अग्नि को छोड़कर उत्पन्न नहीं हो सकता है। उक्त धूम रूप कार्य से कारण अग्नि का अनुमान किया जाता है।

साध्य का साधन के साथ अव्यभिचरित सम्बन्ध या अबिनाभाव, दोनों के तादात्म्य या स्वभाव से तथा दोनों के जन्यजनक भाव से सिद्ध होता है अर्थात् साध्य-साधन का गम्यगमक भाव साधन के तादात्म्य और उत्पत्ति के अधीन है। इसलिए कहा है-

"कार्यकरणभाव और स्वभावरूप नियामक से अबिनाभाव नियम होता है। वह पक्षादि में दर्शन तथा विपक्ष में अदर्शन से होता है।

इस प्रकार पक्ष सपक्ष में सत्त्व विपक्ष में असत्त्व से अन्वय व्यतिरेक से साध्य-साधन का नियमित सम्बन्ध या अबिनाभाव का निश्चय होता है। अविनाभाव सम्बन्ध के प्रयोजन तादात्म्य या स्वभाव तथा उत्पत्ति दो ही है।

परार्थानुमान

त्रिरूपलिङ्ग का आख्यान परार्थानुमान है। पक्षसत्त्व सपक्षसत्त्वादिलिङ्ग की त्रिरूपता कही जा चुकी है। त्रिरूपलिङ्ग का आख्यान कथन या वचन परार्थानुमान है। दूसरे के प्रति साध्य की सिद्धि के लिए त्रिरूपलिङ्ग का परार्थानुमान में कथन या वाक्य के द्वारा प्रयोग किया जाता है।

त्रिरूपलिङ्ग के आख्यान से व्याप्ति की स्मृति होती हैं उसमें अनुमान होता है। उस अनुमान का यद्यपि साक्षात् कारण त्रिरूपलिङ्ग ही है, पर परम्परया त्रिरूपलिङ्गाख्यान

में भी कारणत्व माना जाता है। अनुमान का निमित्त त्रिरूपलिङ्ग ही हैं। यह लिङ्ग स्वयं प्रतीत होकर या दूसरे के द्वारा प्रतिपादित होकर अनुमान का निमित्त होता है। अतः अनुमान के ही स्वार्थ-परार्थ रूप से भेद होते हैं।

वह परार्थानुमान प्रयोग भेद से दो प्रकार का होता है। प्रयोग अर्थात् अभिधान मात्र से दो भेद होते हैं। अर्थतः दो भेद नहीं हैं। वे दोनों प्रकार है-साधर्म्यवत्, वैधर्म्यवत्। सधर्म का भाव सांधर्म्य है, तथा विधर्म का भाव वैधर्म्य है। दृष्टान्तधर्मी के साथ साध्यध र्मी का हेतुकृत सादृश्य ही साधर्म्य है तथा असादृश्य वैधर्म्य है। साधर्म्यदृष्टान्त-जैसे जो कृतक है, वह अनित्य है, जैसे घट, उसी तरह से शब्द भी कृतक है। यहाँ कृतकत्व हेतु कृत साध्य तथा दृष्टान्त धर्मियों का सादृश्य है। वैधर्म्य दृष्टान्त-जैसे जो नित्य है वह अकृतक है, जैसे आकाश, शब्द तो कृतक है यहाँ कृतकत्व तथा अकृतकत्व धर्म से साध्य धर्मी एवं दृष्टान्त धर्मी में असादृश्य है। इस परार्थानुमान में भी त्रिरूप लिङ्ग के वे तीन प्रकार होते हैं। वे हैं अनुपब्धि, स्वभाव और कार्य।

साधर्म्यवद्परार्थानुमान का अनुपलब्धि लिङ्गभेद का उदाहरण- जैसे-जो उपलब्धि लक्षण प्राप्त होकर भी उपलब्ध नहीं होता है। वह असद्व्यवहार का विषय है, जैसे शशविषाण। यह साध्यधर्मी से अन्य दृष्टान्त हैं। भाव यह है कि उपलब्धिलक्षण को प्राप्त होने पर भी जो उपलब्ध नहीं होता है। वह असद् है जैसे शशविषाण। दृश्य के अनुपलम्भ होने से किसी प्रदेश विशेष में उपलब्धि लक्षण प्राप्त भी घट उपलब्ध नहीं होता है।

भाव यह है कि साधर्म्यवत् परार्थानुमान में अनुपलब्धि लक्षण लिङ्ग का उदाहरण है। प्रदेश विशेष में उपलब्धि लक्षण प्राप्त होकर भी घट उपलब्ध नहीं होता है, जैसे शशविषाणादि। शशविषाण, दृश्यानुपलम्भ होने से असद्व्यवहार का विषय है। अतः यह व्याप्तिसिद्ध होती है। दृश्यानुपलम्भ मात्र निमित्त असद्व्यवहार है। तथैव दृश्यानुपलम्भ लक्षण निमित्त से प्रदेश विशेष में घटादि का अभाव सिद्ध किया जाता है। दृश्यानुपलम्भ ही साध्यधर्मी तथा दृष्टान्त धर्मी का सादृश्य है। दृष्टान्त-शशविषाण असद्व्यवहार का विषय है क्योंकि वह अनुपलब्ध है। यह प्रमाण से सिद्ध है उसी तरह प्रदेश विशेष में घट भी असद्व्यवहार का विषय है। अनुपलब्ध होने से साधर्म्यवत् स्वभाव हेतु का प्रयोग जैसे-जो सत् है वह सब अनित्य है। जैसे घट यहाँ सत्त्वरूप हेतु से अनित्यत्व सिद्ध किया जाता है। पक्ष और दृष्टान्त में सत्त्व हेतु से साधर्म्य है तथा सत्त्व घटादि का स्वभाव है।

बौद्धदर्शन में सम्यक्ज्ञान जो प्रमाण का लक्षण है सर्व पुरुषार्थ की सिद्धि का हेतु कहा गया है।

संदर्भ-संकेत

१. सर्वार्थसिद्धि १/१०/९८/२

२. तिलोयपण्णत्ति १/८३

३. श्लोकवार्तिक ३/१/१०/३८/६५

४. स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्, वृ. स्व. ६३

५. प्रमाणं स्वपराभासिज्ञानं बाधविवर्जितम् - न्याय.-१

६. व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मर्थग्राहकं मतम्' - लघीयस्त्रय ६०

७. प्रमाणभविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थ लक्षणत्वात्- अष्टसहस्री पृ. १७४

८. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्' परीक्षामुख-१-१

९. श्लोक वार्तिक ३/१/१०/१२६-१२७ (जैन. सि. को. ३/पृ. १४४)

१०. धवला ९/२, १, ४५/१४२/२ (जै.सि.को. ३/पृ. १४४)

११. तत्त्वार्थसूत्र १/९-१२

१२. न्याय वि. टी. १/३/११५/२५ (जै.सि.कोष ३/१२३)

१३. धवला ९/४.१.४५/१४२ (वही पृ. ३/१२३)

आधार-ग्रन्थ

१. बौद्धन्याय शास्त्र, अप्रकाशित ग्रन्थ, डॉ. विजय कुमार जैन

२. बौद्धन्याय, श्चेरवात्सकी

३. बौद्धदर्शन मीमांसा

४. बौद्धधर्म दर्शन

५. ज्ञानायनी, प्रद्युम्न शाह का लेख

६. बौद्ध तर्क भाषा, भूमिका - प्रोफेसर जगन्नाथ उपाध्याय

७. षडदर्शन समुच्चय

८. जैनदर्शन में प्रमाण का स्वरूप और उसके भेद, डॉ. कपूरचंद जैन, अनेकान्त-५६/३-४



जैन एवं बौद्ध परम्परा में गृहस्थ धर्म

जैन एवं बौद्ध दोनों की गणना श्रमण परम्परा के अन्तर्गत की जाती है। वैदिक परम्परा में जहाँ पुरुषार्थ चतुष्टय-धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष को महत्त्व प्राप्त है तथा वर्णाश्रम व्यवस्था है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ सन्यास के लिए उम्र निर्धारित है। जैन एवं बौद्ध दोनों परम्पराओं में इस तरह की व्यवस्था न पाए जाने से निवृत्ति प्रधान कहा जाता है। जैन एवं बौद्ध दोनों परम्पराओं में मोक्ष एवं निर्वाण को परम लक्ष्य मानकर आचरण संहिताए बनाई गयीं। ई. पू. छठी शताब्दी में दोनों परम्पराओं ने हिंसक यज्ञों का विरोध कर समाज में अहिंसा को प्रतिष्ठा दिलाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

गृहस्थों के लिए प्रतिपादित बौद्ध परम्परा में पञ्चशील एवं जैन परम्परा में अणुव्रत मिलते हैं। पांचवें व्रत में जहाँ जैन परम्परा में अपरिग्रह है, वहीं बौद्धों में सुरामेय्य मद्यपान का त्याग कहा गया है। जैन परम्परा में अनुप्रेक्षाओं की महती प्रतिष्ठा है। अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि और धर्म आदि। यही सिद्धान्त बौद्ध परम्परा में भी पाया जाता है- संसार को अनित्य, दुःखमय माना जाता है।

को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति।
अन्धकारेण ओनद्धा पदीपं कि न गवेसथ।।

दोनों परम्पराओं में मन, वचन एवं काय के पाप से विरत रहने को कहा गया है। इसमें प्रारम्भिक विवाद भी है कि इनमें अधिक पाप किसमें है।

बौद्ध परम्परा में सम्यक् आजीविका में हाथियों का व्यापार, प्राणियों का व्यापार, मांस का व्यापार, शराब का व्यापार, विष का व्यापार वर्जित किया गया है। जैन परम्परा में गृहस्थ भी इससे दूर रहते हैं। बध, बन्ध-छेदादि क्रियाओं से विरत रहने का विधान है।

मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा की शिक्षा बौद्ध धर्म में है। उसी तरह जैन परम्परायें मैत्री, प्रमोद, कृपा एवं माध्यस्थ भाव से परिपूर्ण है।

सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वं।
माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव।।

बौद्ध धर्म में गृहस्थों को पूजा के स्थान पर छः विशेष कर्तव्य बतलाए गये हैं, जिनका विस्तार से प्रतिपादन पाया जाता है। इनमें छः दिशाओं को गुरु, माता-पिता, पत्नी,

भाई, बन्धु, मित्र एवं नौकर-चाकर के प्रति उनके कर्तव्य करने को वास्तविक पूजा कहा है। गृहस्थों के लिए सात सद्धर्म बतलाये गये हैं, जिनसे अपना तथा दूसरे का कल्याण होता है। जीवहिंसा से विरति, चोरी से विरति, परस्त्री गमन से विरति, झूठ से विरति, चुगली से विरति, कठोर वचन से विरति, गप्प हांकने से विरति।[1] अप्रमाद धर्म को सभी धर्मों में अग्र बतलाया गया है। अप्रमाद से इहलोक तथा परलोक में सुफल की प्राप्ति भी बतलाई है। जिस प्रकार जंगल में हाथी के पैर को सभी जानवरों के पैरों से श्रेष्ठ कहा गया है उसी प्रकार सभी धर्मो में अप्रमाद श्रेष्ठ है।[2] 'नाम' धर्म को इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है कि इसके वश में सभी लोग हो जाते हैं।[3] उसी प्रकार चित्त तथा तृष्णा को एक धर्म कहा गया है जिसके वश में सभी लोग हो जाते है।[4] 'क्रोध' धर्म को नष्ट करने की सलाह दी गई है।[5] सत्य, दम, धृति तथा व्यायाम- इन चारों को गृहस्थों का सर्वोत्तम धर्म कहा गया है। इन चार धर्मो को दूसरे श्रमण और ब्राह्मण भी मानते थे। इन धर्मो से इस लोक तथा परलोक में शोक नहीं होता है।[6]

देवता द्वारा पूछे जाने पर कि संसार में अनेक प्रकार से मार्ग कहे गये हैं फिर भी लोग भयभीत हैं। ऐसा कौन सा स्थान है जहां खड़े होकर प्राणी भय को प्राप्त नहीं होता है ? इसके उत्तर में भगवान् चार धर्म बतलाते हैं, जहां पर खड़े होने से परलोक का डर नहीं रहता-

१. मन और वचन को ठीक रास्ते से लगाना।

२. अन्न-पान से भरे घर में रहना।

३. शरीर से पापाचरण नहीं करना।

४. श्रद्धालु एवं मृदु होना तथा बांटकर वस्तुओं का उपभोग करना एवं हिलना- मिलना।[7]

जैन परम्परा में गृहस्थ के छः कर्तव्य बतलाए गए हैं।

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चैव गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने।।

जैन परम्परा में जिस तरह से अणुव्रत एवं महाव्रत की बात कही गई है, उसी तरह बौद्ध परम्परा में गृहस्थों के लिए ५ शील तथा भिक्षु के लिए १० शील हैं।

यो पाणातिपातेति मुसावादञ्च भासति।
लोके अदिन्नं आदियति परदारञ्च गच्छति।।
सुरामेरयपानञ्च यो नरो अनुयुञ्जति।
इधेवमेसो लोकस्मिं मूलं खनति अत्तनो।। - धम्मपद, २४६

१. प्राणातिपात अर्थात् जीव-हिंसा से विरति,

२. मुसावाद या असत्य भाषण से विरति,

३. अदिन्नादान या चोरी से विरति,

४. परदारञ्च या परस्त्रीगमन से विरति और

५. सुरामेरयपानञ्च अर्थात् मद्यपान से विरति।

जो व्यक्ति इनका पालन करता है, उसका आचरण पवित्र माना जाता है। पंचशील का आरम्भ होता है 'पानाति पाता वेरमणि' से। जिसका तात्पर्य है हिंसा से विरत रहना और कर्म तथा वाणी को संयमित रखना।

पंचशील आचार के नैतिक नियम निर्धारित करते हैं अतः इन्हें शिक्षापद भी कहते हैं, क्योंकि ये गृहस्थमात्र के लिए आचरणीय ठहराये गये हैं, इसलिए इन्हें गृहस्थशील भी कहते है।

सामान्यजन के लिए नित्य आचरणीय होने के कारण इनको नित्यशील भी कहते हैं क्योंकि पवित्र गुणसम्पन्न आर्य जन इसका अनुपालन करते हैं, इसे आर्यकण्ठ भी कहा गया है।

बौद्धों के पंचशील के समकक्ष जैनधर्म का पंचमहाव्रत है।[८] वास्तव में पंचमहाव्रत सम्पूर्ण श्रमणाचार की आधारशिला है। पंचमहाव्रतों को श्रमण जीवनभर के लिए मन-वचन और काय से धारण करता है और इनकी सर्वांशतः सुरक्षा करता हुआ निर्वाण की भूमिका तक पहुँचने में सक्षम होता है।

अहिंस सच्चं च अतेणगं च। तत्तो य बम्मं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंचमहव्वयाणि। चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विउ।।

–उत्तराध्ययन, २१/१२

१. सब प्रकार के प्राणातिपात से विरमण (अहिंसा)

२. सब प्रकार के मृषावाद से विरमण (सत्य)

३. सब प्रकार के अदत्तादान से विरमण (अचौर्य)

४. सब प्रकार के यौन-सम्बन्धों से विरमण (ब्रह्मचर्य) और

५. सब प्रकार के धनादि-संग्रह से विरमण (अपरिग्रह महाव्रत)।

इन पाँच व्रतों का सूक्ष्म रूप से पालन करना महाव्रत कहलाता है और मुनि के लिए इनका पालन अनिवार्य है। गृहस्थ उपासक के लिए ये ही अणुव्रत के रूप में विहित हैं।

बौद्ध परम्परा में भी गृहस्थों की आचार संहिता होती है। सिंगालोवादसुत्त में गृहस्थ के अधिकार एवं कर्तव्य का जितना सुन्दर विवेचन मिलता है अन्यत्र नहीं। यह

आदर्श गृहस्थ की ऐसी आचार संहिता कही जा सकती है जो किसी धर्म पंथ या राष्ट्र की सीमा से बाधित नहीं होती।

सिंगालोवाद सुत्त में वर्णित है कि एक समय भगवान् राजगृह में वेणुवन कलन्द-निवाप में विहार करते थे। उस समय सिगाल नाम का गृहपति-पुत्र सबेरे ही उठकर, राजगृह से निकलकर, भीगे वस्त्र, भीगे-केश, हाथ जोड़े, पूर्व-दिशा, दक्षिण-दिशा, पश्चिम-दिशा, उत्तर दिशा, नीचे की दिशा, ऊपर की दिशा-नाना दिशाओं को नमस्कार करता था। भगवान् ने उसे ऐसा करते देख, पूछा- "गृहपति-पुत्र! क्या तू रोज सबेरे उठकर इस प्रकार नमस्कार करता है ?" 'भन्ते ! मेरे पिता ने मुझसे मरते समय यह कहा था कि इस प्रकार पूर्व-दिशा, दक्षिण-दिशा आदि को नमस्कार किया कर। मैं अपने पिता के वचन के प्रति गौरव प्रदर्शित करता हुआ नमस्कार करता हूँ।"

"गृहपति-पुत्र ! तू ने अपने पिता के कथन को ठीक तरह से ग्रहण नहीं किया। माता-पिता को पूर्व-दिशा मानना चाहिये। आचार्यों को दक्षिण-दिशा मानना चाहिये। पुत्र-स्त्री को पश्चिम दिशा मानना चाहिये। मित्रामात्यों को उत्तर-दिशा मानना चाहिये। नौकर-चाकरों को नीचे की दिशा मानना चाहिये। साधु-सन्तों (=श्रमण-ब्राह्मणों) को ऊपर की दिशा मानना चाहिये।"

"गृहपति-पुत्र ! पाँच तरह से माता-पिता की सेवा करनी चाहिये : १. इन्हीं ने मेरा भरण-पोषण किया है, अतः मुझे इनका भरण-पोषण करना चाहिये, २. उन्होंने मेरा उपकार किया है, अतः मुझे इन का उपकार करना चाहिये, ३. इन्होंने कुल-परम्परा को बनाये रखा है, अतः मुझे भी कुल-परम्परा को बनाये रखना चाहिये। ४. इन्हीं ने मुझे अपनी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाया है, अतः मुझे भी उत्तराधिकार सौंपना चाहिये। ५. ये श्रद्धापूर्वक दान करते रहते हैं, अतः मुझे भी दान करते रहना चाहिये।

"इन पाँच तरह से सेवित माता-पिता अपनी संतान पर पाँच प्रकार से अनुकम्पा करते हैं- १. वे अपनी सन्तान को पाप-कर्म से दूर रखते हैं, २. वे उसे पुण्य-कर्मों में लगाते हैं, ३. वे उसे शिल्प सिखाते हैं, ४. वे योग्य-स्त्री से संबंध करा देते हैं, ५. वे समय आने पर उत्तराधिकार सौंप देते हैं।

"गृहपति-पुत्र ! पाँच बातों से शिष्य-द्वारा आचार्य-रूपी दक्षिण-दिशा की सेवा की जानी चाहिये- १. तत्पर रहना चाहिये, २. सेवा करनी चाहिये, ३. सुश्रूषा करनी चाहिये, ४. परिचर्या करनी चाहिये, ५. आदरपूर्वक शिल्प (विद्या) सीखनी चाहिये।

"गृहपति-पुत्र ! इस प्रकार पाँच बातों से शिष्य द्वारा सेवित आचार्य पाँच प्रकार से शिष्य पर अनुकम्पा करते हैं- १. सुविनय युक्त करते हैं। २. सुन्दर शिक्षा को भली

प्रकार सिखाते हैं। ३. 'हमारी (विद्या) परिपूर्ण रहेगी' यह सोच कर सभी शिष्य (=हुनर) सभी श्रुत (=विद्या) सिखाते हैं। ४. मित्र-अमात्यों को सु-प्रतिपादन करते हैं। ५. दिशा की सुरक्षा करते हैं।

"गृहपति-पुत्र! पाँच प्रकार से स्वामि-द्वारा भार्या-रूपी पश्चिम दिशा की सेवा की जानी चाहिये- १. सन्मान से, २. अपमान न करने से, ३. अतिचार (=परस्त्री-गमन आदि) न करने से, ४. ऐश्वर्य (=सम्पत्ति) प्रदान करने से, ५. अलंकार-प्रदान करने से। गृहपति-पुत्र ! इन पाँच प्रकार से स्वामि द्वारा सेवित भार्या पाँच प्रकार से स्वामी पर अनुकम्पा करती है- १. काम-काज (कर्मान्त) भली प्रकार करती है, २. नौकर-चाकर (=परिजन) वश में रहते हैं, ३. अतिचारिणी नहीं होती, ४. अर्जित धन की रक्षा करती है तथा ५. सभी कामों में आलस्य-रहित तथा दक्ष होती है।

"गृहपति-पुत्र! पाँच प्रकार से यार-दोस्त रूपी उत्तर-दिशा की सेवा करनी चाहिये- १. दान से, २. प्रिय-वाणी से, ३. काम-काज कर देने (=अर्थ-चर्या) से, ४. समानता का व्यवहार करने से तथा ५. विश्वासी बनने से। गृहपति-पुत्र! इन पाँच प्रकारों से सेवा किये गये यार-दोस्त पाँच प्रकार से प्रत्युपकार करते हैं- १. प्रमाद (=भूल) हो जाने पर रक्षा करते हैं, २. प्रमादी की सम्पत्ति की रक्षा करते हैं, ३. भयभीत होने पर शरणदाता (=रक्षक) होते हैं, ४. आपत्काल में नहीं छोड़ते तथा ५. दूसरी प्रजा (लोग) भी ऐसे यार-दोस्त वाले व्यक्ति का सत्कार करती है।

"गृहपति-पुत्र! पाँच प्रकार से मालिकों द्वारा नौकर-चाकर रूपी निचली दिशा की देखभाल की जानी चाहिये- १. उनकी सामर्थ्य के अनुसार उन से काम लेकर, २. भोजन-वेतन देकर, ३. रोग-सुश्रूषा से, ४. उत्तम रसों को प्रदान करने से तथा ५. समय पर छुट्टी देने से।

गृहपति-पुत्र! इन पांच प्रकार से देखभाल किये गये नौकर-चाकर पाँच प्रकार से मालिक की सेवा करते हैं- १. मालिक से पहले विस्तर से उठ जाने वाले होते हैं, २. पीछे सोने वाले होते हैं, ३. जो दिया जाये, वही लेने वाले होते हैं, ४. कामों को अच्छी तरह करने वाले होते हैं, ५. कीर्ति-प्रशंसा फैलाने वाले होते हैं।

"गृहपति-पुत्र! पाँच प्रकार से श्रमण-ब्राह्मण रूपी ऊपर की दिशा की सेवा की जानी चाहिये- १. मैत्री-भाव युक्त शारीरिक-कर्म होना चाहिये, २. मैत्री-भाव युक्त वाणी होनी चाहिये, ३. मैत्री-भाव युक्त मन होना चाहिये, ४. भिक्षुओं के लिये द्वार खुला रहना चाहिये तथा ५. भौतिक-वस्तुयें दी जानी चाहिये।

"गृहपति-पुत्र! इस प्रकार सेवित ऊपर की दिशा श्रमण-ब्राह्मण पाँच प्रकार से अनुकम्पा करते हैं- १. पाप (=बुराई) से बचाते हैं, २. कल्याण (=भलाई) में प्रवेश कराते हैं ३. अश्रुत को सुनाते हैं, ४. श्रुत (=विद्या) को दृढ़ करते हैं तथा ५. सुगति-पथ दिखाते हैं।"

जैनपरम्परा में गृहस्थों के लिए जहाँ विशेष गुणस्थान प्रतिमाओं आदि का विवेचन मिलता है। वहाँ साधना की अवस्था में बौद्धों में भेद नहीं है। सिद्धान्त रूप से जहाँ जैन वीतरागता में ही मोक्ष स्वीकार करता है तथा स्त्रियों को मोक्ष की प्राप्ति नहीं बतलाई गयी है। वहीं बौद्धों में सभी को निर्वाण का पात्र कहा है लेकिन गृहस्थ धर्म में विभिन्न झंझट है अतः भिक्षु अवस्था को उपयुक्त स्थल बतलाया गया।

जैन एवं बौद्ध दोनों परम्पराओं में गृहस्थ का महत्त्व प्रतिपादित है लेकिन उसका सही आकलन नहीं किया जाता है। जैन परम्परा में निर्मोही श्रावक अर्थात् गृहस्थ को मोही से भी श्रेष्ठ कहा गया है।

संदर्भ-संकेत

१. वही, ५, पृ. ३००

२. अप्पमादो खो, महाराज, एको धम्मों, यो उभो अत्थे समधिगयूह तिट्ठति-दिट्ठधम्मिकं चेव अत्थं सम्परायिकं चा ति। वही, १, पृ. ८५

३. नामं सब्बं अद्धभवि, नामा भिय्यो न विज्जति।
नामस्स एकधम्मस्स, सब्बेव वसमन्वगू ति।। - संयुत्त. १, पृ. ३६

४. वही, पृ. ३७

५. वही, पृ. ३६

६. यस्सेते चतुरो धम्मा, सद्धस्स घरमेसिनो।
सच्चं धम्मो धिति चागो, स वे पेच्च न सोचति।। वही, १, पृ. २१६

७. वाचं मनं च पणिधाय सम्मा, कायेन पापानि अकुब्बमानो।
एतेसु धम्मेसु ठितो चतूसु, धम्मे ठितो परलोकं न भाये" ति।। - संयुत्त. १, पृ. ४०

८. सिंगालोवादसुत्त, दीघनिकायपालि



जैन एवं बौद्ध परम्परा में दान का महत्त्व

(क) जैन परम्परा में दान

जैन गृहस्थों के लिए छः आवश्यक कर्म कहे गए हैं- देवपूजा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान। दान से स्व एवं पर-दोनों का उपकार होता है। दान देने से एक ओर जहाँ परिग्रह से मोह छूटता है वहीं दूसरों के जीवन यापन में मदद मिलती है।

जैन परम्परा में गृहस्थ के लिए परिग्रह परिमाण व्रत की बात कही गई है। अणुव्रती अपरिग्रह धर्म का पालन कैसे करे, इसके लिए आवश्यक निर्देश दिए गए हैं तथा उसके अतिचार भी बतलाए गए हैं।

मूर्छा (आसक्ति) को परिग्रह कहा जाता है। जो आत्मा को चारों तरफ से जकड़ ले उसे परिग्रह कहते हैं-

परितो ग्रहणात् आत्म निमित्त परिग्रहत्वं। - सर्वार्थसिद्धि

ज्ञानार्णव में कहा गया है कि अर्थ से होने वाले अनर्थ का हमेशा चिन्तन करना चाहिए।

'अर्थमनर्थ भावयं नित्यम्'।

आचार्य उमास्वामी ने बहुत आरम्भ एवं परिग्रह को नरक का कारण कहा है-

बह्वारम्भपरिग्रहत्त्वं नरकस्यायुषः।

जबकि थोड़ा आरम्भ एवं थोड़ा परिग्रह मनुष्यायु का कारण है

अल्पारम्भ परिग्रहत्वं मानुषस्य।

प्रतिस्पर्धा के युग में आज भोग-उपभोग के भण्डारण की दुष्प्रवृत्ति इतनी बढ़ गई है कि उनकी कोई सीमा नहीं। उसके बाद व्यक्ति को सन्तोष नहीं है, व्याकुल है, इसलिए हमारे आचार्य कह गए हैं कि अर्थ से होने वाले अनर्थ का हमेशा चिन्तन करना चाहिए। डॉ. राधाकृष्णन ने परिग्रही व्यक्ति को पराधीन कहा है। जिसके पास जितना अधिक परिग्रह होता है वह उतना दुःखी रहता है। धन की तीन गतियां बतलाई गई हैं-दान, भोग एवं नाश। बुद्धिमत्ता इसी में है कि नष्ट होने के पहले उसे परोपकार में लगा दे। उत्तम कार्यों में लगाया हुआ धन ही सार्थक है अन्यथा वह अनर्थों की जड़ है।

पानी बाढ़े नाव में घर में बाढ़े दाम।
दोनों हाथ उलीचिए यही सयानो काम।।

साधारण गृहस्थ का कर्तव्य है कि अपनी आवश्यकतानुसार धन-धान्य, बर्तन, वस्त्र मकानादि की मर्यादा बांधकर शेष पदार्थों के प्रति किसी प्रकार का ममत्व या तृष्णा न करें।

अतिवाहनातिसंग्रह-विस्मयलोभाति भारवाहनानि।

परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपा पञ्च लक्ष्यन्ते।। - रत्नकरण्ड, ६२

अर्थात् प्रयोजन से अधिक सवारी रखना, आवश्यक पदार्थों से अधिक संग्रह करना। दूसरे के वैभव को देखकर विस्मय धारण करना-परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचार है। परिग्रह परिमाण व्रत का पालन करते हुए मर्यादा के बाहर की सम्पत्ति के सम्पर्क से निस्पृहता का भाव रखना आवश्यक है।

'ततोऽधिकेषु निस्पृहता'।

परिग्रह या धन का सच्चा उपयोग दान के रूप में किया जा सकता है। गृहस्थ के कार्य में हिंसा होती है। अतः वह मोक्ष का अधिकारी नहीं होता। समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि जैसे जल खून को धो देता है, उसी प्रकार अतिथियों को यथायोग्य चतुर्विध दान से गृहस्थी के कार्यों से संचित पाप भी निश्चय ही धुल जाते हैं-

गृहकर्मणापि निचितं, कर्मविमर्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्

अतिथीनां प्रतिपूजा, रुधिरमलं धावते वारि।। - रत्नकरण्ड - ११४

दान का फल बतलाते हुए कहा है कि-

क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले।

फलतिच्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम्।। -रत्नकरण्ड ११६

उचित समय में योग्य पात्र के लिए दिया हुआ थोड़ा भी दान उत्तम पृथ्वी में पड़े हुए वटवृक्ष के बीज के समान प्राणियों के लिए माहात्म्य और वैभव से युक्त पक्ष में छाया की प्रचुरता से सहित बहुत भारी अभिलाषित (इष्ट) फल को देता है।

जो गृहस्थ दूसरे के कार्यसाधन में हमेशा तत्पर रहता है और स्वयं सदाचार का पालन करता है वह ऋषियों में भी पवित्र है।

मूलतः आर्यों को दान का पात्र बतलाया गया है। (रत्नकरण्डश्रावकाचार)

दान देने में परिमाण की अपेक्षा भावना एवं पात्र का विशेष विचार करना चाहिए। रत्नत्रय धारी मुनि उत्तम पात्र है। श्रावक-मध्यम पात्र है। अविरत सम्यग्दृष्टि गृहस्थ-जघन्य पात्र है। मिथ्यादर्शन के साथ जो जैनाचार का पालन करता है वह कुपात्र हैं। मिथ्यादर्शन के साथ जो मिथ्याचार का पालन करता है वह अपात्र है। सम्यग्दृष्टि मनुष्य

पात्र दान के फलस्वरूप स्वर्ग में, मिथ्यादृष्टि मनुष्य भोगभूमि में उत्पन्न होता है। कुपात्रदान का फल कुभोग भूमि है और अपात्र दान का फल नरक निगोदादिक है।

औषधिशास्त्र अभय आहारा।

आहार, औषधि, उपकरण और आवास के दान से वैय्यावृत्य चार प्रकार की कही गई है। भक्त-पान आदि को आहार कहा है, बीमारी को दूर करने वाले पदार्थ को औषधि, ज्ञानोपकरण को उपकरण तथा वसतिका आदि को आवास कहा है। कुछ शास्त्रकार उपकरण दान के स्थान पर ज्ञानदान और आवास दान के स्थान पर अभय दान का उल्लेख करते है।

आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन।
वैय्यावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतस्राः।।

भोजन दान देने पर शेष दान भी दिए जाने के समान है क्योंकि प्राणियों को भूख और प्यास रूपी व्याधि होती है। भोजन के बल से ही साधु रात-दिन शास्त्र का अभ्यास करता है, और भोजन दान देने पर प्राणों की रक्षा होती है अर्थात् आहारदान देने से विद्या, धर्म, तप, ज्ञान, मोक्ष सभी से दिया हुआ समझना चाहिए।

करता है बांटकर, भोजन का उपयोग
न व्यापे भूख का, उसे भयंकर रोग।

आचार्यों ने साधुओं के लिए उत्तम त्याग और गृहस्थों के लिए दान को उत्तम कर्म बतलाया है। त्याग में अंतरंग के राग-द्वेष को छोड़ने की बात है, दान में अप्राप्त भोगों की इच्छा न करने तथा प्राप्त भोगों में शनैः-शनैः विमुख होने का भाव है।

दान देते समय-आनन्द के आँसू आना, शरीर रोमांचित होना, बहुमान होना, प्रियवचन बोलना और बाद में दान की अनुमोदना करना-ये पाँच दान के आभूषण है।

भोगोपभोग परिमाणव्रत व्यक्तिगत निराकुलता एवं सामाजिक दोनों की दृष्टियों से उपयोगी है। यही कारण था कि आचार्य गृहस्थों के लिए छः कर्म प्रतिदिन आवश्यक मानते हैं-

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयम-तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षड् कर्माणि दिने दिने।।

(ख) बौद्ध परम्परा में दान-

बौद्ध परम्परा में पारमिताओं का विशेष महत्त्व है। बुद्धत्व प्राप्ति हेतु ये साधनभूत हैं। बुद्धकारक धर्मों को पारमी या पारमिता कहा गया हैं पारमिता का अर्थ पार चला जाना

(पारम्-इता) अथवा पराकाष्ठा को प्राप्त करना है। बुद्धत्व प्राप्ति के लिए दशधर्मों का पालन अत्यावश्यक है। इन्हें धर्मविशेष की परिपूर्ति का परमभाव भी कहा जा सकता है।

पारमिता कथन खुद्दक निकाय के बुद्धवंस में सारिपुत्र के प्रश्न के रूप में आता है। भगवान बुद्ध को प्रसन्न जानकर सारिपुत्र ने पारमी-पूरण वृतान्त को उनसे जाने के उद्देश्य से पूछा था कि हे भगवन! आपके द्वारा (दान, शील, नैष्कम्य, प्रज्ञा, वीर्य, शान्ति, सत्य, अधिष्ठान, मैत्री तथा उपेक्षा नामक दस पारमिताओं) दस उपपारमिताओं तथा दस परमार्थ पारमिताओं का परिपूरण किस प्रकार किया गया। इसी प्रश्न के विसर्जन स्वरूप भगवान ने अतीत के बुद्धों की तथा अपनी पूर्वकथा कही तथा उसी क्रम में पारमिताओं का आख्यान किया। पारमिताओं का विस्तार से सुव्यवस्थित वर्णन जातक की अट्ठकथा की निदान कथा में मिलता है, जिसके लेखक आचार्य बुद्धघोष हैं।[५]

दान पारमिता- बौद्ध धर्म में कुशल एवं अकुशल कर्मों का बहुविध विवेचन है। कुशल कर्मो के उद्देश्य क्रम में सर्वत्र दान का नाम आता है। दान, शील भावना आदि रूपों में कुशल कर्मों की चर्चा की जाती है। कर्म वस्तुतः चेतना का नाम है। इसे कायद्वार से उत्पन्न होने पर कुशल काय कर्म, वचीद्वार से उत्पन्न होने पर कुशल मनो कर्म कहा जा सकता है। उत्तम कोटि का दान वह है, जिसके सम्पादन क्षण से चित्त सौमनस्य ज्ञान तथा तीन कुशल हेतु अलोभ, अद्वेष तथा अमोह से युक्त रहता है। अभिधर्म में इसकी चर्चा प्रथम कामावचर कुशल चित्त शीर्ष में की जाती है।

दान पारमिता की पूर्ति के लिए बोधिसत्व की क्रिया उस उलटे जलयुक्त घड़े के समान होती है जो अपने को रिक्त करते हुए सम्पूर्ण जल का त्याग कर देता है। जिस प्रकार घट जल देकर पुनः लेने की आशा नहीं रखता, उसी प्रकार दान पारमिता की प्राप्ति की लालसा से दूर रहते हुए भी स्वतः प्राप्त हो जाती है। जातक की कथाओं से बोधिसत्व की सहज भावना से दानकृत्य का परिचय मिलता है। उदाहरणार्थ- अकीर्ति ब्राह्मण, संखब्राह्मण, राजा शिवि आदि के रूप में दिए गये दान का पारमिता पूर्ति हेतु वर्णन है। सबसे प्रमुख सस जातक है जहाँ बोधिसत्व ने द्वार पर आए याचक को अन्य देय पदार्थ को योग्य न पाकर अपने शश शरीर को ही दान कर दिया-

न ससस्स तिला अत्थि, न मुग्गा नापि तण्डुला।
इमिना अग्गिना पक्कं, ममं भुत्वा वने वसो ति।

इस प्रकार अपने को ही दान देने के कारण दान परमार्थ पारमिता कहलाई गई-

भिक्खाय उपगतं दिस्वा, सकत्तानं परिच्चजिं।
दानेन मे समो नत्थी, एसा में दान पारमी।।

संयुत्तनिकाय के कुलसुत्त में बतलाया गया है कि एक बार जब नालन्दा में दुर्भिक्ष पड़ा हुआ था। निगण्ठनाटपुत्र ने अपने शिष्य असिबन्धकपुत्रग्रामणी से कहा कि जाकर वह श्रमण गौतम के साथ वाद करे, जिसमें निगण्ठनाटपुत्त ने ग्रामणी को लाभ यह बतलाया कि उसका नाम प्रसिद्ध होगा कि उसने इतने बड़े महानुभाव श्रमण गौतम के साथ वाद किया है। दूसरा लाभ दो तरफ प्रश्न पूछने से होगा। जिसे श्रमण गौतम तो निगला सकेगें न उगला सकेगें अर्थात् दोनों उत्तर में वे फंस जाएंगे। ग्रामणी का यह दोतरफा प्रश्न इस प्रकार था-

क्या आप श्रर्मण गौतम अनेक प्रकार से कुलों के उदय, रक्षा, अनुकम्पा का वर्णन करते हैं? भगवान के हाँ कहने पर ग्रामीण कहता है कि यदि आप कुलों की रक्षा के लिए वर्णन करते हैं तो क्यों इस दुर्भिक्ष में जब लोगों के प्राण निकल रहे हैं, मरे हुए मनुष्यों की उजली-उजली हड्डियां बिखरी हुई हैं, लोग सूखकर सलाई बन गये हैं, फिर भी आप इतने बड़े संघ के साथ चारिका कर रहे हैं? क्यों कुलों के नाश और अहित के लिए तुले हुए हैं? जिसके उत्तर में भगवान् बुद्ध कुलों के नाश के ८ कारण बताते हैं। वे इक्यानवे कल्प की बात स्पष्ट करते हैं लेकिन उनको ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता कि कोई भिक्षा देने से नष्ट हुआ हो, इसमें तो वह सम्पत्तिशाली होता है।

दान की शिक्षा एवं महत्त्व -

दान को परलोक के लिए सबसे बड़ा पुण्य बतलाया गया है जो नष्ट नहीं होता है। इस संसार को धधकती आग के समान बतलाया है। जिस प्रकार घर में आग लग जाने से निकाला हुआ सामान भलाई के लिए होता है उसी प्रकार दिया हुआ दान पुण्य कमाता है।

दान के अभाव में धन की गति नष्ट होना बतलाई गई है। कहा गया है कि धन चोर चुरा लेते हैं, राजा हरण कर लेते हैं, आग लग जाती है या नष्ट हो जाता है, इसलिए पण्डित व्यक्ति को भोग करते हुए दान देना चाहिए। दो कंजूस सेठों की गति बतलाई गई है कि अपार धन होते हुए भी वे मट्ठा के साथ खुदड़ा चावल खाते थे, तीन जोड़ों वाले जाट का कपड़ा पहनते थे तथा पत्तों की छावनी वाले रथ पर सवारी करते थे। इनकी मृत्यु के बाद इनका धन राज-खजाने में जमा कर लिया गया। भगवान् ने कहा कि बुरे लोग धन पाकर न तो स्वयं सुख उठाते हैं न स्त्री-बच्चों को सुख देते हैं न नौकर-चाकरों को सुख देते हैं न श्रमण ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा देते हैं। उनकी गति ऐसी ही होती है। जिस प्रकार कोई स्वच्छ, शीतल जलवाली, साफ घाटवाली बावली हो लेकिन उसके पानी का उपयोग न किया जाय तो उसका पानी खराब हो जाता है उसी प्रकार बुरे लोगों के धन का है कि सदुपयोग न होने से नष्ट हो जाता है।[६]

बगीचे, उपवन लगाने वाले, पुल बंधवाने वाले, पौशाला बैठाने वाले, कुंआ खुदवाने वाले तथा राहगीरों को शरण देने वालों के सदा पुण्य बढ़ते बतलाये गए हैं।[७] अन्न दान देने को बल देने के समान, वस्त्र देने को वर्ण देने के समान, वाहन देने को सुख देने के समान, प्रकाश देने को आंख देने के समान, आश्रय देने को सब कुछ देने के समान तथा धर्मोपदेश देने को अमृत देने के समान बतलाया गया है।[८] कहा गया है कि जो अपने परिवार का भरण-पोषण करते हुए थोड़ा भी दान देता है वह उस बड़े दान से भी महत्त्वपूर्ण है जो मारकाट कर एवं प्राणियों को सताकर कमाया धन दिया जाता है।[९]

भगवान् से पूछे जाने पर कि दान किसे देना चाहिए तथा किसे देने से महाफल होता है? भगवान् ने कहा कि जिसके प्रति श्रद्धा हो उसे दान देना चाहिए तथा शीलवान् व्यक्ति को दान देने से महाफल होता है, क्योंकि शीलवान् व्यक्ति पांच अंगों से रहित एवं पांच अंगों से युक्त होता है।[१०] देवहित सुत्त में कहा गया है कि जिस मुनि ने पूर्वजन्म की बातों को जान लिया है, स्वर्ग और अपाय को देखता है जिसकी जाति क्षीण हो गई है तथा परम ज्ञान को प्राप्त कर लिया है उसको दान देना चाहिए, दान देने से महाफल प्राप्त होता है।[११]

दान देने के पश्चात् पश्चाताप करने पर निन्दा की गई है एवं गति बतलाई है कि सेठ ने भिक्षा देने के बाद पश्चाताप किया इसलिए उसका मन धन के उपयोग की ओर नहीं झुकता।[१२] श्रद्धापूर्वक दान देने से प्रज्ञा एवं निर्वाण की प्राप्ति बतलाई गई है।[१३]

जैन परम्परा में दान चार प्रकार चार संघ को दीजिए कहा गया। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा गया है-

नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः, सप्तगुण समाहितेन शुद्धेन।
अपसूनारम्भाणामार्याणामिश्यते दानम्।। ११३

अर्थात् सातगुण सहित भद्र श्रावक के द्वारा नवधाभक्ति से पात्र सूना और आरम्भ रहित आर्य को आहार आदि देना दान है।

बौद्ध परम्परा में भी शीलवान व्यक्ति को दान देना उत्तम कहा गया है।

आज जो दुनिया में विविध राजनैतिक, आर्थिक विषमताओं का उदय है वह जैन शिक्षा परिग्रह परिमाणव्रत से दूरी का कारण है। परिग्रह परिमाण की भावना के कारण ही दान की परम्परा देखी जाती है। आज हजारों विद्यालय चल रहे हैं, धर्मशालायें चल रही हैं, तीर्थों का विकास हो रहा है, औषधालय खुल हुए हैं, सब दान की उदात्त भावना का परिणाम हैं, दान मनुष्यों का आभूषण है।

सन्त कबीर ने भी साखी में कहा है-

साई इतना दीजिए जामे कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ साधु न भूखा जाय।।

एवं च-

- अगर धन की रक्षा है मंजूर तो धन वालों बनो दानी।
कुएं से गर नहीं निकला तो सड़ जायेगा पानी।।

- तस्यैव सफलं जन्म, तस्यैव सफला क्रिया।
सफलं गृहधान्यादि, येन दानं कृतं शुभम्।।

संदर्भ-संकेत

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार
२. तत्त्वार्थसूत्र
३. दसधर्म स्कन्ध सम्पादक डॉ. श्रेयांस कुमार जैन, श्रुत प्रभावना प्रकाशन, बड़ौत
४. जैन शासन
५. दान पारमिता, निदानकथा पालि
द्रष्टव्य- बोधिचर्यावतार भिक्षु शांतरक्षित
६. संयुत्तनिकाय १, पृ. २०, ८८-९०
७. वही, १, पृ. ३१
८. वही, १, पृ. ३०
९. वही, पृ. २०-२१
१.. वही, पृ. ९७-९९
११. वही, पृ. ९१
१२. संयुत्त. पृ. ९१
१३. वही, पृ. २१



जैन एवं बौद्ध परम्परा में भौगोलिक मान्यताएं

भारतीय दार्शनिक वैदिक, जैन एवं बौद्धों ने प्रत्यक्ष लोक एवं असीम लोक की गणना की है, जो आज के आधुनिक विज्ञान के भी पहुँच के परे है। आधुनिक यंत्रों से भी अधिक विश्वस्त योगियों की सूक्ष्म दृष्टि रही है क्योंकि योगियों ने लोकों की रचना को व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति या अवनति का कारण माना है। जैन, वैदिक एवं बौद्ध मान्यताएं भिन्न-भिन्न होती हुई भी बहुत कुछ समान है। भारतीय आचार्यों की दृष्टि कल्पों पूर्व के इतिहास को स्पर्श करती है जबकि वैज्ञानिक पृथ्वी को कुछ करोड़ पूर्व ही मानते हैं। डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल ने पौराणिक जम्बूद्वीप को समग्र एशिया में मिलाया है।[1] श्री सुरेन्द्रनाथ मजूमदार ने पौराणिक जम्बूद्वीप के अंगभूत भारतवर्ष के नवखण्डों को वृहत्तर भारत के नवखण्ड बनाने का प्रयत्न किया है। उसके केवल एक खण्ड या द्वीप को ही वास्तविक भारत देश माना है।[2]

आज भूगोल के विषय के रूप में पृथ्वी, इसके चारों ओर का वायुमण्डल, इसकी रचना तथा इसके ऊपर स्थित सौर मण्डल का स्वरूप आदि एवं इनके ऊपर रहने वाली जीवराशि, पदार्थ उनका सम्बन्ध पढ़ाया जाता है। आधुनिक यन्त्रों से भी प्रत्यक्ष कराया जाता है, जिसका प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है वहाँ भूगोल वेत्ताओं की पहुँच नहीं है।

आधुनिक भूगोल से जैन भूगोल का वैशिष्ट्य है कि जहाँ आधुनिक भूगोल सृष्टि को आदि और अन्त वाला मानता है वहीं जैनदर्शन सृष्टि को अनादि निधन मानता है।

आधुनिक भूगोल लोक की कोई सुनिश्चित धारणा तथा आकार नहीं मानती वहीं भारतीय परम्परा आकार तथा सुनिश्चितता मानती है।

- आधुनिक भूगोल में स्वर्ग एवं नरक की कोई कल्पना नहीं है।

भारतीय दर्शन परम्परा स्वर्ग-नरक का अस्तित्त्व मानती है तथा विस्तार से उनका वर्णन है।

- आधुनिक भूगोल का दृश्य जगत, पृथ्वी, ग्रह पर विद्यमान छह महाद्वीप दो महासागरों सहित छोटे-छोटे द्वीप समूहों तक ही सीमित है।

भारतीय दर्शन परम्परा मानती है कि असंख्यात द्वीपों के समुद्रों का विस्तार है। अत्यन्त ऊंचे पर्वत, पातालों से युक्त लवणसमुद्र आदि महासागर विद्यमान है।

- आधुनिक भूगोल में तथ्यों को मापने के लिए इसके अपने मापक है। दूरियां, ताप, भार, आर्द्रता, गति, शक्ति आदि नापने के लिए विभिन्न मापक निर्धारित हैं।.

- जैन परम्परा में अपने विशिष्ट माप हैं जैसे-राजू, योजन, धनुष, कोश, हाथ, अंगुल आदि। पल्य, पल्योपम, सागर, सागरोपम। सूची-प्रत्स्घन, अंगुल, जगत श्रेणी, प्रस्तर, घन आदि। अनवस्था-शलाका प्रतिशलाका महाशलाका हुंड।

- ये सभी अद्भुत व आश्चर्यकारी हैं।

(क) जैन परम्परा के भौगोलिक तत्त्व

पृथ्वी का स्वरूप- अनन्त अलोकाकाश के बीच निराधार सींके की तरह लोक की स्थिति है। यह अधोलोक, मध्यलोक और उर्ध्वलोक के भेद से तीन प्रकार का है। ये तीनों लोक सब जगह घनोदधि वातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय से घिरे हुए हैं। जैसे-वृक्ष छाल से, अण्डा ऊपर की जाली से और यह शरीर चमड़े से लिपटा दिखाई देता है। इनमें से अधोलोक वेत्रासन (वेंत से बने आसन) के समान है, मध्यलोक थाली के समान है और उर्ध्वलोक मृदंग जैसे आकार वाला है। दोनों हाथों को कमर पर रखकर दोनों को तिरछे फैलाकर खड़े होने से मनुष्य का जैसा आकार होता है, वैसा समूचे लोक का आकार है।

अधोलोक- अधोलोक के वर्णन प्रसंग में सात भूमियां बतलाई गई हैं -रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमप्रभा। ये क्रमशः नीचे-नीचे घनोदधिवातवलय, घनवातवलय, तनुवातवलय और आकाश के आधार हैं। रत्नप्रभा पृथ्वी के तीन भाग-खरभाग, पंकभाग और अब्बबहुल भाग है। इनमें से ऊपर के दो भागों में व्यंतर तथा भवनवासी देव रहते हैं। नीचे के अब्बबहुल भाग में नारकी रहते हैं। पृथ्वी की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन की है। इन सात पृथ्वियों में क्रम से तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, तीन लाख और पाँच कम एक लाख और पाँच नरक बिल हैं। ये बिल जमीन में गड़े हुए ढोल की पोल के समान हैं। इन पृथ्वियों के नाम, पटल, विस्तार, बिल आदि की संख्या तथा इन पृथ्वियों में रहने वाले नारकियों की आयु, ऊँचाई, लेश्या-गति आदि का विस्तार से प्रतिपादन मिलता है।

मध्यलोक- मध्यलोक में अच्छे-अच्छे नाम वाले जम्बूद्वीप आदि द्वीप और लवण समुद्र हैं। सबके बीच में थाली के आकार का जम्बूद्वीप है। उसके चारों तरफ लवण समुद्र है, उसके चारों ओर धातकी खण्ड द्वीप है, उसके चारों तरफ कालोदधि समुद्र है, उसके चारों तरफ पुष्कर समुद्र है। इस प्रकार एक दूसरे को घेरे हुए असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। अन्त के द्वीप का नाम स्वयंभूरमण द्वीप है और स्वयंभूरमण समुद्र है। प्रत्येक द्वीप दूने-दूने विस्तार वाले, पहले-पहले के द्वीप समुद्र को घेरे हुए तथा चूड़ी के समान आकार वाले हैं।[5] सोलह द्वीप और सोलह समुद्रों के नाम इस प्रकार हैं।

१. मणिच्छिला द्वीप – मणिच्छिला समुद्र
२. हरिताल द्वीप – हरिताल समुद्र
३. सिन्धुवर द्वीप – सिन्धुवर समुद्र
४. श्यामकर द्वीप – श्यामकर समुद्र
५. अजंनवर द्वीप – अजंनवर समुद्र
६. हिंगुलिवर द्वीप – हिंगुलिवर समुद्र
७. रूपावर द्वीप – रूपावर समुद्र
८. सुवर्णवर द्वीप – सुवर्णवर समुद्र
९. वज्रवर द्वीप – वज्रवर समुद्र
१०. वैडूर्यवर द्वीप – वैडूर्यवर समुद्र
११. नागवर द्वीप – नागवर समुद्र
१२. भूतवर द्वीप – भूतवर समुद्र
१३. यक्षवर द्वीप – यक्षवर समुद्र
१४. देववर द्वीप – देववर समुद्र
१५. अहिन्द्रवर द्वीप – अहिन्द्रवर समुद्र
१६. स्वयंभूरमण द्वीप- स्वयंभूरमण समुद्र

सभी संख्यात द्वीप चित्रा पृथ्वी के ऊपर स्थित हैं। सभी समुद्र चित्रा पृथ्वी को खण्डित कर वज्रा पृथ्वी के ऊपर स्थित हैं। सभी द्वीप व समुद्रों के अन्त में वैडूर्यमणी जगती होती है।

जम्बूद्वीप- जिसका मूल वज्रमयी होता है तथा जो रमणीक शिखरों से युक्त है। द्वीप समुद्र के बीच में (मेघनाभिः) सुदर्शन मेरु नाभि से युक्त थाली के समान गोल है। एक लाख योजन विस्तार वाला जम्बूद्वीप है।

सात क्षेत्र- इस जम्बूद्वीप में भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत-ये क्षेत्र हैं। इन सात क्षेत्रों का विभाग करने वाले पूर्व से पश्चिम तक लम्बे-लम्बे हिमवत्, महाहिमवत्, निषध, नील, रुक्मिन् और शिखरिन ये छह वर्षधर कुलाचल पर्वत हैं। ये पर्वत क्रम से सुवर्ण, चांदी, सुवर्ण, वैडूर्य, मणि, चांदी के है। सुवर्ण के समान वर्ण वाले है। कई तरह की मणियों से चित्र-विचित्र तटों से युक्त ऊपर नीचे और मध्य में एक समान विस्तार वाले हैं।[६]

सरोवर- उन पर्वतों के ऊपर क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिच्छ, केशर, महापुण्डरीक और पुण्डरीक-ये छह सरोवर है।

पहला सरोवर- एक हजार योजन लम्बा और लम्बाई से आधा अर्थात् पांच सौ योजन विस्तार वाला है। दश योजन गहरा है। उसके बीच में एक योजन विस्तार वाला कमल है।

इस द्वीप में विदेह क्षेत्रान्तर्गत 'उत्तरकुरु भोगभूमि में अनादिनिधन पृथ्वीकाय और अकृत्रिम जम्बू-जामुन के वृक्ष हैं, इसलिए इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप पड़ा।[७]

आगे के सरोवर और कमल क्रम से प्रथम सरोवर तथा उसके कमल से दूने-दूने विस्तार वाले हैं।

इन सरोवरों के कमलों पर एक पल्य की आयुवाली तथा सामानिक और परिषद जाति के देवों से सहित- श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नाम की देवियां क्रम से उन सरोवरों के कमलों पर निवास करती हैं।

नदियां- जम्बूद्वीप के ७ क्षेत्रों में- गंगा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्वा, हरित्, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, कप्पकूला, रक्ता, रक्तोदा-ये चौदह नदियां जम्बूद्वीप के पूर्वोक्त ७ क्षेत्रों के बीच बहती हैं। इनमें से प्रथम नम्ब्र वाली पूर्व समुद्र में शेष-सात पश्चिम की ओर जाती हैं। गंगा, सिन्धु आदि नदियों के युगल चौदह हजार सहायक नदियों से घिरे हुए हैं।[८]

भरतक्षेत्र का विस्तार - भरतक्षेत्र पांच सौ छब्बीस योजन विस्तार वाला है। एक योजन के उन्नीस भागों में से छह भाग अधिक है। (५२६-६/१९ योजन)

विदेह क्षेत्र पर्यन्त के पर्वत और क्षेत्र भरतक्षेत्र से दूने-दूने हैं।

विदेह क्षेत्र उत्तर के तीन पर्वत और तीन क्षेत्र दक्षिण के पर्वत और क्षेत्रों के समान विस्तार वाले हैं।[९] भरत क्षेत्र का विस्तार जम्बूद्वीप के एक सौ नब्बे भाग है।

कालचक्र परिवर्तन- भरत और ऐरावत क्षेत्र में छह कालों में से उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी द्वारा भरत और ऐरावत क्षेत्र में जीवों के अनुभव आदि की बढ़ती और न्यूनता होती रहती है।

भरत और ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी म्लेच्छ खण्डों तथा विजयार्थ पर्वत की श्रेणियों में अवसर्पिणी काल के समय चतुर्थ काल के आदि से लेकर अन्त तक परिवर्तन होता है। उत्सर्पिणी काल के समय तृतीय काल के अन्त से लेकर आदि तक परिवर्तन होता है। वहीं इनमें आर्यखण्ड की तरह छहों कालों का परिवर्तन नहीं होता है, न इनमें प्रलयकाल पडता है।[१०]

हैमवत, हरिवर्ष और देवकुरु के निवासी मनुष्य, तिर्यंच क्रम से एक पल्य, दो पल्य और तीन पल्य की आयु वाले होते हैं।

इन तीन क्षेत्रों में अमनुष्यों की ऊंचाई क्रम से एक, दो और तीन कोश की होती हैं शरीर का रंग नील, शुक्ल और पीत होता है।

हैरण्यवत आदि (उत्तर के क्षेत्र में) रहने वाले मनुष्य हैमवत आदि के मनुष्यों के समान आयु वाले होते है।

हैरण्यवत क्षेत्र की रचना हेमवत क्षेत्र के समान, रम्यक की रचना हरिक्षेत्र के समान, उत्तर कुरु की रचना देवकुरु के समान, जम्बूद्वीप के छः भोगभूमियां और अढाईद्वीप में कुल ३० भोगभूमियां हैं।

विदेह क्षेत्र में मनुष्य तिर्यंच संख्यात वर्ष की आयु वाले होते हैं।

धातकी खण्ड- नामक दूसरे द्वीप में क्षेत्र, कुलाचल मेघ, नदी आदि समान पदार्थों की रचना जम्बूद्वीप से दूनी-दूनी है।

पुष्करद्वीप- में भी जम्बूद्वीप की अपेक्षा सब रचना दूनी-दूनी है।

मनुष्यक्षेत्र- मानुषोत्तर पर्वत के पहले अर्थात् अढ़ाई द्वीप में ही मनुष्य होते हैं। मानुषोत्तर पर्वत के आगे ऋद्धिधारी मुनीश्वर तथा विद्याधर भी नहीं जा सकते। [११]

अढाईद्वीप- जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकी खण्ड, कालोदधि और पुष्करार्ध इतना क्षेत्र अढाई द्वीप कहलाता है। इनका विस्तार ४५ लाख योजन है।[१२]

पांच मेरु सम्बधी, ५ भरत, ५ ऐरावत (देवकुरु एवं उत्तरकुरु को छोड़कर), ५ विदेह इस तरह अढाई द्वीप में कुल १५ कर्मभूमियां हैं जहां पर असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, विद्या और शिल्प इन छः कर्मों की प्रवृत्ति हो उसे कर्मभूमि कहते हैं। [१३]

(ख) बौद्ध परम्परा में भौगोलिक तत्त्व

पृथ्वी का स्वरूप- इस महाशून्य रूपी अन्तरिक्ष में अनन्त चक्रवाल या गोलाकार सृष्टियां, जिन्हें लोकधातुएं भी कहा गया हैं, अवस्थित है। विसुद्धिमग्ग में कहा गया है कि 'अनन्त चक्रवालों और अनन्त लोकधातुओं को भगवान बुद्ध ने अपने अनन्त ज्ञान से जाना, विदित किया, समझा। प्रत्येक चक्रवाल का विस्तार बारह लाख, तीन हजार, चार सौ पचास योजन है और प्रत्येक का अपना अलग-अलग सूर्य है। जो उसे प्रकाश देता है।

हमारी पृथ्वी, इन्हीं अनन्त चक्रवालों में से एक है। चौबीस नहुत अर्थात् २ लाख ४० हजार योजन (एक नहुत बराबर दस हजार) मोटी है और चारों ओर समुद्र से घिरी है।

सागरेण परिक्खित्तं चक्कं च परिमण्डलं। [१४]

यह चार महाद्वीपों से युक्त है जिनके नाम हैं जम्बूद्वीप, पुब्बविदेह, उत्तरकुरु और अपरगोयान।

ये चारों सुमेरु पर्वत के चारों ओर अवस्थित हैं। सुमेरुपर्वत की ऊंचाई १६८ योजन बताई गई है। सुमेरु के चारों ओर सात पर्वत-श्रेणियां फैली हुई हैं, जिनके नाम है-युगन्धर, ईसधर, करवीक, सुदस्सन, नेमिन्धर, विनतक और अस्सकण्ण।

युगन्धरो ईसधरो करवीको सुदस्सनो।
नेमिन्धरो विनतको अस्सकण्णो गिरि ब्रह्मा।
एते सत्त महासेला सिनेरुस्स समन्ततो।।[१५]

पूर्वविदेहो (पुब्बविदेहो) के सम्बन्ध में बताया गया है कि यह सुमेरु पर्वत के पूर्व में स्थित है "पुरतो विदेहे पस्स।' इसका विस्तार सात हजार योजन बताया गया है। उत्तर कुरु सुमेरु के उत्तर में अवस्थित है। इसका विस्तार आठ योजन है और यह समुद्र से घिरा है। उत्तरकुरु को दीपवंस में 'कुरु दीप' कहकर पुकारा गया है। अपरगोयान जिसे महावस्तु में अपरगोदानिक या अपरगोदानिय, ललितविस्तर में अपरगोदानीय और तिब्बती दुल्व में अपरगौदनि कहा गया है। सुमेरु के पश्चिम में (गोयानिये च पच्छतो-विधुरपीड़ित जातक) अवस्थित बताया गया है। इसका विस्तार ७००० योजन है। - "सत्तयोजन सहस्सप्पमाणं अपरगोयानं।" जम्बूद्वीप सुमेरु पर्वत के दक्षिण में अवस्थित है और इसका विस्तार दस हजार योजन बताया गया है- "दस सहस्सयोजनप्पमाणं जम्बूद्वीप।" इस दस सहस्र योजन विस्तार में से चार सहस्र योजन विस्तार समुद्र का है, तीन सहस्र हिमालय पर्वत का और शेष तीन सहस्र योजन में मनुष्य बसे हुए हैं। यह भी कहा गया है कि चार महाद्वीपों में से प्रत्येक पांच-पांच सौ लघु द्वीपों से घिरा हुआ है। "एकमेको चेत्थ महादीपो पंचसत-पंचसत-परित्तदीपपरिवारो।" यह ध्यान में रखना चाहिए कि दीप से तात्पर्य यहाँ चारों ओर जल से घिरे टापू से नहीं है बल्कि केवल दो ओर जल से घिरे (द्वीप) स्थल अथवा दोआव से है।[१६]

बुद्धकालीन जम्बूद्वीप-

उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में समुद्र तट तक, पूर्व में और दक्षिण पूर्व में वंग, सुह्य, उत्कल और कलिंग से लेकर पश्चिम में सिन्धु सौबीर और उत्तर पश्चिम में अफगानिस्तान और काश्मीर तक फैला हुआ प्रदेश माना जाता था।

दीघनिकाय में महापठवी शब्द का प्रयोग है जो उत्तर की ओर चौड़ी या विस्तृत (आयत) और दक्षिण की ओर बैलगाड़ी (शकट) के अग्रभाग की शक्ल की कही गई हैं

उत्तरेण आयतं दक्खिणेन सकटमुखं'

पालि परम्परा का अनुसरण करते हुए ह्युआन चुआङ ने सातवी शताब्दी में जम्बूद्वीप को अर्धचन्द्र या इन्दुकला के आकार का कहा है। १७

एक दूसरे चीनी लेखक ने, जिसने 'फह-के-लि-तु" नामक ग्रन्थ लिखा है, भारत देश के आकार को उत्तर में चौड़ा और दक्षिण में सकरा बताया है और विनोदपूर्वक कहा है" इस देश के निवासियों के मुख भी उसी शक्ल के हैं जिस शक्ल का उनका देश है।

जम्बूद्वीप के सम्बन्ध में पालि विवरणों में कहा गया है कि उसमें चौरासी हजार नगर हैं। दीपवंस और महावंस में कहा गया है कि अशोक ने इनमें से प्रत्येक में एक बौद्ध विहार बनवाया। अंगुत्तर-निकाय में भगवान् बुद्ध ने जम्बूद्वीप के लोगों की प्रशंसा करते हुए कहा है कि वे साहस, मानसिक, जागरूकता और धार्मिक जीवन, इन तीन बातों में उत्तरकुरू और तावतिंस लोक के मनुष्यों से श्रेष्ठ होते हैं। कथावत्थु में भी उनके आचरण की प्रशंसा की गई है। जम्बूद्वीप के सम्बन्ध में भगवान् ने एक भविष्यवाणी भी की थी। दीघ-निकाय के चक्कवत्ति-सीहनाद-सुत्त का उपदेश देते समय उन्होंने कहा था कि जिस समय मेत्तेय (मैत्रेय) बुद्ध का आविर्भाव होगा, उस समय जम्बूद्वीप सम्पन्न और समृद्ध होगा। ग्राम, निगम, जनपद और राजधानी इतने सन्निकट होंगे कि एक मुर्गी भी कूदकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंच जाय। सरकंडे के वन की तरह जम्बूद्वीप मनुष्यों की आबादी से भर जाएगा। काकाति जातक में जम्बूद्वीप समुद्द (जम्बूद्वीप समुद्र) का उल्लेख है और कहा गया है कि उसके परे केबुक नामक नदी है जिसकी आधुनिक पहचान आज तक कोई विद्वान नहीं कर सका है।

५वीं शताब्दी के वसुबन्धुकृत अभिधर्मकोश में लोक का विवरण इस प्रकार है- लोक के अधोभाग में १६००,००० योजन ऊँचा अपरिमित वायुमण्डल है। इसके ऊपर ११२०,००० ऊँचा जलमण्डल है, इस जलमण्डल में ३२०,००० योजन भूमण्डल है, इस भूमण्डल के बीच में मेरु पर्वत है, आगे ८०,००० योजन विस्तृत सीता (समुद्र) है। जो मेरु को चारों ओर से वेष्टित करके स्थित है। इसके आगे ४०,००० योजन विस्तृत युगन्धर पर्वत वलयाकार से स्थित है।

इसके आगे भी इसी प्रकार एक-एक सीता (समुद्र) के अन्तराल से उत्तरोत्तर आधे-आधे विस्तार से युक्त क्रमशः ईषधर, खदरिक, सुदर्शन, अश्वकर्ण, विनतक और निर्मितधर है। अन्त में लोहमय चक्रवात पर्वत है।

निमिन्धर और चक्रवाल पर्वत के मध्य में जो समुद्र स्थित है उसमें मेरु को पूर्वादि दिशाओं में क्रम से अर्द्धचन्द्राकार पूर्व विदेह शकटाकार, जम्बूद्वीप, मण्डलाकार,

अवरगोदानीय और समचतुष्कोण उत्तरकुरू ये चार द्वीप स्थित है। इन चारों के पार्श्व भाग में दो-दो अन्तर्द्वीप है। उनमें जम्बूद्वीप के पास वाले चमरद्वीप में राक्षसों का और शेष द्वीपों में मनुष्यों का निवास है।

जम्बूद्वीप में उत्तर की ओर ६ कीटाद्रि तथा उनके आगे हिमवान पर्वत अवस्थित है। उसके आगे अनवतप्त नामक अगाध सरोवर है, जिसमें से गंगा, सिन्धु, अश्व और सीता ये नदियां निकलती हैं सरोवरों के समीप में जम्बूवृक्ष है जिसके कारण इस द्वीप का 'जम्बू' ऐसा नाम पड़ा।

जम्बूद्वीप के नीचे २०,००० योजन प्रमाण अवीचि नामक नरक है। उसके ऊपर क्रमशः प्रतापन आदि सात नरक और हैं। इन नरकों के चारों पार्श्व भागों में कुकूल, कूणप, क्षुरमार्गादिक और खारोदक ये चार उत्सद हैं।

इन नरकों के धरातल में आठ शीत नरक और हैं। भूमि में ४०,००० योजन ऊपर जाकर चन्द्र सूर्य परिभ्रमण करते हैं। जिस समय जम्बूद्वीप में मध्याह्न होता है उस समय उत्तरकुरु में अर्धरात्रि, पूर्व विदेह में अस्तगमन और अवरगोदनीय में सूर्योदय होता है।[२८] मेरु पर्वत की पूर्वादि दिशाओं में उसके चार परिषण्ड हैं जिन पर क्रम से यक्ष मालाघाट, सदामद, और चतुर्महाराजिक देव रहते हैं। इसीप्रकार सात पर्वत पर भी देवों के निवास हैं। मेरुशिखर पर त्रायंत्रिंश (स्वर्ग) है। उससे ऊपर् विमानों में याम, तुषित आदि देव रहते हैं।

देवों में चतुर्महाराजिक और त्रायंत्रिंश देव मनुष्यवत कामभोग भोगते है। याम, तुषित आदि क्रमशः आलिंगन, पाणिसंयोग, हसित और अवलोकन से तृप्ति प्राप्त करते हैं। उपर्युक्त कामधातु देवों के ऊपर रूप धातु, देवों के ब्रह्मकायिक आदि १७ स्थान हैं। ये सब क्रमशः ऊपर-ऊपर अवस्थित हैं। जम्बूद्वीप वासी मनुष्यों की ऊँचाई केवल साढ़े तीन हाथ है। आगे क्रम से बढ़ती हुई अनभ्र देवों के शरीर की ऊँचाई १२५ योजन प्रमाण हैं।

(ग) तुलनात्मक अध्ययन

जिनेन्द्रवर्णी जी का विचार है कि जैन व वैदिक मान्यताएं बहुत अंशों में मिलती है तथा जैन व बौद्ध मान्यताएं भी बहुत अंशों में मिलती है जैसे-

१. पृथ्वी के चारों तरफ वायु व जलमण्डल का अवस्थान जैन मान्य वातवलयों के समान है।

२. मेरु आदि पर्वतों का एक-एक समुद्र के अन्तराल से उत्तरोत्तर वेष्टित वलयाकार रूपेण अवस्थान।

३. जम्बूद्वीप, पूर्वविदेह, उत्तरकुरु, जम्बूवृक्ष, हिमवान, गंगा सिन्धु आदि नामों की समानता।

४. जम्बूद्वीप के उत्तर में नौ क्षुद्रपर्वत, हिमवान, महासरोवर व उनसे गंगा, सिन्धु आदि नदियों का निकास ऐसा ही है जैसा कि भरतक्षेत्र में उत्तर में ११ कुटी युक्त हिमवान पर्वत पर स्थित द्रह से गंगा, सिन्धु व रोहितास्वा नदियों का निकास।

५. जम्बूद्वीप के नीचे एक के पश्चात एक करके अनेकों नरकों की अवस्थापना।

६. पृथ्वी के ऊपर चन्द्र सूर्य का परिभ्रमण।

७. मेरु शिखर पर स्वर्गों का अवस्थापन लगभग ऐसा ही है जैसा कि मेरुशिखर से ऊपर केवल एक बाल प्रमाण अन्तर से जैनमान्य स्वर्ग के प्रथम ऋतु नामक पटल का अवस्थान।

८. देवों में कुछ का मैथुन से, कुछ का स्पर्श या अवलोकन आदि से कामभोग का सेवन तथा ऊपर के स्वर्गों में काम भोग का अभाव जैन मान्यतावत् ही है।[१९]

९. देवों का ऊपर-ऊपर अवस्थापन।

१०. मनुष्यों की ऊँचाई से लेकर देवों के शरीर की ऊँचाई तक क्रमिक वृद्धि लगभग जैन मान्यता के अनुसार है।[२०]

जम्बूदीवपण्णत्ति में जम्बूद्वीप को एक महाद्वीप माना गया है। उसके सात क्षेत्रों का वर्णन किया है - भरत, हेमवत्, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत् एवं ऐरावत्, मध्य में मेरु पर्वत है।

पालि का जम्बूद्वीप सुमेरू पर्वत के दक्षिण में स्थित हैं।

पुराणों का जम्बूद्वीप बौद्ध परम्परा के जम्बूद्वीप से अधिक विस्तृत है। पौराणिक भारतवर्ष जिसका केवल एक नवमखण्ड ही प्राकृत देश है। बौद्धों के जम्बूद्वीप से अधिक विस्तृत हैं।

पालि परम्परा में जम्बूद्वीप का विस्तार दस हजार योजन बतलाया गया है। 'दससहस्सयोजनप्पमाणं जम्बूद्वीप' इस दस सहस्रयोजन विस्तार से ४ सहस्रयोजन समुद्र है, ३ सहस्र योजन हिमालय पर्वत, ३ सहस्र योजन में मनुष्य बसे हुए हैं।[२१]

चार महाद्वीपों की अपेक्षित स्थिति के सन्दर्भ में कहा गया है कि जब जम्बूद्वीप में सूर्योदय होता है, अपरगोयान में रात का बीच का पहर होता है। अपरगोयान में जब सूर्यास्त होता है तो जम्बूद्वीप में अर्धरात्रि। अपरगोयान में जब सूर्योदय होता है तो जम्बूद्वीप में दोपहर, पूर्व विदेह में सूर्यास्त और उत्तरकुरु में अर्द्धरात्रि।[२२]

प्रतीत्यसमुत्पाद के कारण निःस्वभावता का प्रतिपादन भी वैज्ञानिकों को समझाया जा सकता है। घटादि निःस्वभाव होने पर भी हमें सस्वभाव दिखलाई पड़ते हैं, यह एक

जन्मजात भ्रान्ति है। ऐसी अनेक भ्रान्तियां वैज्ञानिक भी मानते हैं। पृथ्वी तथा चन्द्रमा सूर्य की परिक्रमा करते हैं, परन्तु हमें सूर्य गतिमान प्रतिभासित होता है, पृथ्वी स्थिर दिखाई देती है। यह भी एक जन्मजात भ्रान्ति है। इसीलिए घटादि पदार्थ जैसे हमें दिखलाई पंड़ते हैं, वैसे न होकर उसकी वास्तविक स्थिति अन्यथा होने के विषय में वैज्ञानिकों को विचार करना पड़ सकता है। यद्यपि आधुनिक विज्ञान का विषय मुख्यतः भौतिक पदार्थ हैं, तथापि बौद्धिक विषय पर भी विविध अनुसंधान तथा परीक्षण प्रगति में है इसीलिए प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त एवं आधुनिक विज्ञान का सम्यक् अध्ययन करके बौद्धिक स्तर ऊंचा करने का प्रयत्न करना होगा, तभी ज्ञान की प्राप्ति की दिशा की ओर बढ़ा जा सकता है।

(घ) आधुनिक भूगोल एवं जैन भूगोल

पृथ्वी के लिए पहले अग्नि का गोला होने की कल्पना, उसका धीरे-धीरे ठण्डा होना और नए सिरे से उस पर जीवों का मनुष्यों की उत्पत्ति का विकास जैन मान्य प्रलय के स्वरूप के समान माना है। [२३]

पृथ्वी के चारों ओर के वायुमण्डल में ५०० मील तक उत्तरोत्तर तरलता जैन मान्य तीन वातवलयों वत है। गोमूत्र के समान वर्णवाला घनोदधि, मूंग के समान वर्णवाला घनवात तथा अनेक वर्णवाला तनुवात। ये तीनों वातवलय वृक्ष की त्वचा के समान लोक को घेरे हुए हैं। [२४]

एशिया आदि महाद्वीप जैन मान्य भरतादि क्षेत्रों के साथ काफी अंश में मिलते हैं। आर्य व म्लेच्छ जातियों का यथायोग्य अवस्थान भी जैन मान्यता को सर्वथा उल्लंघन करने में समर्थ नहीं। सूर्य चन्द्र आदि के अवस्थान में तथा उन पर जीवराशि सम्बन्धी विचार में मौलिक मतभेद हैं।

सूर्यचन्द्र आदि में जीवों का सर्वथा अभाव मानना वैज्ञानिकों की अल्पज्ञता बतलाई है [२५] क्योंकि वहां रहने वाले जैन मान्य वैक्रियक शरीरधारी जीव विशेषों को उनकी स्थूल दृष्टि यंत्रों द्वारा भी स्पर्श करने को समर्थ नहीं है।

जिनेन्द्र वर्णी जी जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में लिखते हैं कि वर्तमान भूगोल जिसका आधार इन्द्रिय प्रत्यक्ष है, की अवहेलना करना युक्तिसंगत नहीं है। अतः आचार्यों की दृष्टि से विचार कर समन्वयात्मक दृष्टि से अर्थ करना योग्य हैं जिससे कई समस्याएं सुलझ सकती हैं तथा वर्तमान भूगोल से मेल बढ़ाया जा सकता है।

१. इन पृथ्वियों के घूमने का कोई निर्देश नहीं है पर साथ ही निश्चित रूप से उनके घूमने का निषेध भी नहीं है, इसलिए उन सभी पृथ्वियों को प्रकृति के नियमानुसार एक दूसरे के इर्द-गिर्द घूमना स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है।

उनका चक्राकार से अवस्थान भी इस बात का अनुमान कराता है कि वे पृथ्वियां अवश्य नित्य घूम रही हैं। इनके घूमने का क्रम भी उसी प्रकार का होना चाहिए जैसा कि प्रत्येक भौतिक पदार्थ में एवं प्रोटोन के गिर्द अनेकों इलेक्ट्रानों का घूमना अथवा सौरमण्डल में एक सूर्य के गिर्द चन्द्र, पृथ्वी, ग्रह आदि अनेकों पृथ्वियों का घूमना। एक सौरमण्डल में अनेकों पृथ्वियां एक सूर्य के गिर्द घूमती है और वह एक पूरा का पूरा सौरमण्डल किसी दूसरे सौरमण्डल के गिर्द घूमता है।

यहाँ इन्द्रक सर्वप्रधान है। इसके गिर्द चक्र के अरों के आकार से स्थित श्रेणीबद्धों के अनेकों बिल व विमान घूमते हैं, प्रत्येक श्रेणी-बद्ध को मध्य में करके अनेक प्रकीर्णक मण्डल घूमते हैं, एक-एक प्रकीर्णक मण्डल में इसी प्रकार की क्षुद्ररचना अनुमान की जाती है।[२६]

नित्य घूमते रहते भी आकाश में अपनी सीमा का उल्लंघन नहीं करते, यही इन पटलों का रूप व अवस्थान है। ये पटल एक के पश्चात् एक करके गणनातीत योजनों के अन्तराल से ऊपर-ऊपर अवस्थित है।

नरक में इन्द्रक आदि भूखण्डों को बिल संज्ञा और स्वर्ग में उन्हीं को विमान संज्ञा देने के कारण पहले के निवासी वहां अत्यन्त अन्धकारपूर्ण अत्यन्त शीत या अत्यन्त ऊष्ण, अनेकों प्रकार के विषैले व तीक्ष्ण घात वाले, क्षुद्र जीवों से पूर्ण दलबल वाली गुफाओं में रहते हैं और दूसरे के निवासी वहाँ अत्यन्त सुखमय भवनों में रहते हैं।

उपर्युक्त पूर्व की भांति मध्यलोक भी एक पटल है। अन्तर यह है कि उपर्युक्त पटलों में नारकी व देवों की निवास भूत पृथ्वियाँ हैं और यहाँ तिर्यंचों व मनुष्यों का निवास भूत है। वहाँ पृथ्वियां श्रेणीबद्ध व प्रकीर्णकों के रूप में अवस्थित रहती घूमती हैं। एक के पश्चात् एक करके उत्तरोत्तर इन प्रमाण को लिए हुए उनका अवस्थान तथा उनकी असंख्यात विरोध को प्राप्त नहीं होता।

पृथ्वियों के आकार के विषय में विवाद है।

भारतीय दर्शनकार उन्हें वलयाकार मानते हैं,

वैज्ञानिकों नारंगीवत गोल,

इसका समन्वय करते हुए जिनेन्द्र वर्णी जी लिखते हैं कि-

द्वीप रूप से निर्दिष्ट उन्हें भूखण्ड न मानकर, भूखण्डों का संचार क्षेत्र मान लिया जाय।

जम्बूद्वीप सुमेरु के गिर्द, धातकीखण्ड जम्बूद्वीप के गिर्द घूम रहे हैं। सुमेरु के गिर्द लट्टू की भांति घूमने से जम्बूद्वीप का संचार क्षेत्र जम्बूद्वीप प्रमाण ही है परन्तु अगले द्वीपों का संचार क्षेत्र पूर्व-पूर्व द्वीप के गिर्द वलयाकार रूप बनता है। इन संचार क्षेत्रों की

निष्कम्भ या विस्तृत अपनी-अपनी पृथ्वी के बराबर होना स्वाभाविक है। सुमेरु पर्वत उस-उस पृथ्वी के बीच जो अन्तराल है वही इन वलयों की सूची का प्रमाण है।

यह अनुमान प्रमाण भूत नहीं है फिर भी विज्ञान से संगति बैठाने में कोई विरोध नहीं है।

द्वीपों के मध्यवर्ती सागरों का निर्देश वास्तव में जलपूर्ण सागर रूप प्रतीत नहीं होता, बल्कि उन द्वीपों के मध्यवर्ती अन्तरालों में स्थित घन व घनोदधि वातवलय रूप प्रतीत होता है। वलयाकार संचार क्षेत्रों के मध्य रहने वाले से अन्तराल का भी वलायाकार होना युक्ति संगत है।

वैज्ञानिकों द्वारा मध्यलोक की उपर्युक्त सर्व पृथ्वियों को पृथक-पृथक रूप से नारंगीवत् गोल मान लेने पर भी जैन परम्परा द्वारा मध्यलोक को चपटा, थाली के आकार वाला मानने में कोई विरोध नहीं होना चाहिए क्योंकि संचार क्षेत्रों का समुदितरूप का वही आकार है।

इस पृथ्वी को ही जम्बूद्वीप मानकर इसमें भरत आदि क्षेत्रों तथा हिमवान पर्वतों का अवस्थान ही बैठाया जा सकता है, भले ही शब्दशः न मिले क्योंकि समय-समय पर इनके नाम बदलते रहे हैं। प्रकृति की परिवर्तन की अटूट धारा में पर्वत आदि भूगर्भ में समा गए अथवा नए उत्पन्न हो गए।

- बौद्ध भूगोल पर जो पुस्तकें प्रकाशित हैं उनका उपयोग यदा कदा इतिहास में किया जाता है।
- जैन भूगोल पर सैकड़ों पुस्तकें प्रकाशित हैं, लेकिन इतिहासविद् उनको सन्दर्भ ग्रन्थ लेते हैं क्या ? यह विचारणीय है।
- भौगोलिक मान्यताओं एवं धार्मिक मान्यताओं में अन्तर होना स्वाभाविक है ?
- आज उन बिन्दुओं की भी तलाश करना होगी जो हमारे शास्त्रों में प्रतिपादित हैं एवं वैज्ञानिकों के लिए उपयोगी हो सकती है।
- आगम ग्रन्थों में प्राप्त नगरों के रास्ते-मार्ग के आधार पर कुछ नवीन सूचनाएं प्राप्त हो सकती हैं।

संदर्भ-संकेत

१. इण्डियन एंटीक्विट्ज, पृ. ७१
२. इन्शियण्ट ज्योग्रेफी आफ इण्डिया, परिशिष्ट प्रथम, पृ. ७४५-७५४
३. जैन भूगोल, लेख डॉ. अभय कुमार जैन, बीना
४. श्रुत संवर्धिनी, दिस. २००४,. पत्रिका
५. तत्त्वार्थ सूत्र ३/८

६. वही ३/११-१२, १३
७. मोक्ष शास्त्र, सटीक, पृ. ५७ टिप्पणी सूरत, वीर सं. २४६७
८. विस्तार
९. विस्तार पृ. ६४
१०. पृ. ६६ टीका
११. ३/३५
१२. पृ. ६८
१३. ३/२७
१४. जातक ३/४८४
१५. विसुद्धिमग्ग, ७/४२
१६ बुद्धकालीन भूगोल - ५८-५९
१७. बील बुद्धिस् रिकाड्स ऑफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, जिल्द पहली-पृ. ७०
वाटर्स- आन मुआन चुआडस टैवल्स इन.इण्डिया, पहली जिल्द, १४०
१८. ३/६१, ६२ पृ. ३७६
१९. विस्तार-दव/११/२/१०
२०. जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश,
२१. वही
२२. तत्वार्थ सूत्र, ५९
२३. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. ३/४५२
२४. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. ३/४५६
२५. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. २/४५९
२६. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, पृ. ३/४५२

आधार ग्रन्थ

पं. अभय कुमार जी जैन, बीना का लेख, श्रुत संवर्धिनी पत्रिका
भरतसिंह उपाध्याय, बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग
अभिधर्म कोश,
जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, जिनेन्द्रवर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
तत्वार्थ सूत्र,
बी. सी. लाहा- जागरफी आफ अर्ली बुद्धिज्म, भारतीय पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली १९७३



बौद्ध एवं जैन साहित्य में नारी का स्थान एवं योगदान

१. बौद्ध साहित्य में नारी का स्थान एवं योगदान-

बौद्धकाल के प्रारंभ में नारी के प्रति संकुचित दृष्टिकोण था। भगवान् बुद्ध के उदार दृष्टिकोण से धीरे-धीरे नारियों की अवस्था में उन्नति होती गई।[१]

संयुत्तनिकाय में नारी जीवन के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख मिलता है।

बौद्धकाल में पुत्री की अपेक्षा पुत्र की प्राप्ति होने पर अधिक खुशी मनाई जाती थी। भगवान् इस भेद को समाप्त करना चाहते थे। यह इस बात से स्पष्ट होता है कि राजा प्रसेनजित पुत्री पैदा होने पर उदास हुए तो भगवान् ने कहा कि कोई-कोई महिला पुरुषों से बढ़ी-चढ़ी बुद्धिमती, शीलवती, सास की सेवा करने वाली पतिव्रता होती है जिससे शूरवीर पुत्र उत्पन्न होता है जो राज्य का अनुशासन करता है-

इत्थीपि हि एकच्चिया, सेय्या पोस जनाधिप।
मेधाविनी सीलवती, सस्सुसेवा पतिब्बता।।
तस्सा यो जायति पोसो, सूरो होति दिसम्पति।
तादिसा सुभगिया पुत्ते, रज्जं पि अनुसासती ति।[२]

भगवान ने पत्नी को सबसे अच्छा मित्र कहा है जो पग-पग पर पति के विकास में योगदान देती है- भरिया च परमो सखा।[३]

माता के रूप में नारी को कुटिया के समान और पत्नी को घोंसला के समान कहा गया है-

मातरं कुटिकं ब्रूसि, भरियं ब्रूसि कुलावकं।[४]

स्त्री की पहिचान उसके पति से होती है-

भत्ता पञ्ञाणमित्थिता ति।[५]

सेवा करने वाली पत्नी श्रेष्ठ समझी जाती थी। एक ओर जहाँ नारी के गुणों की प्रधानता है वहाँ दूसरी ओर थेरीं गाथा में भिक्षुओं की गौरव गाथा देखी जा सकती है।

- नारियों के पांच दुखों को बतलाया गया है जो मात्र नारियों को ही सहन करना पड़ता है।

१. अल्पायु में ही अपने बन्धुओं को छोड़कर पतिकुल में जाना।

२. ऋतुमती होना।

३. गर्भिणी होना।
४. सन्तान उत्पन्न करना तथा
५. अपने पति की सेवा करना।[६]

-नारी की प्रतिष्ठा उनके पाँच गुणों के कारण बतलाई गई है, जिन गुणों के कारण उसका महत्त्व है-

१. उनका रूपवती होना।
२. शीलवती होना।
३. दक्ष होना।
४. धन वाली होना
५. गर्भधारण करने वाली होना।[७]

इनमें से शील के अभाव में उसे घर से निकाल दिया जाता था, शेष गुणों के अभाव में उसकी मात्र प्रतिष्ठा कम होती थी।

- नारी के पांच परम दुर्लभ ऐश्वर्य बतलाए गए हैं जिनसे युक्त रहने पर नारी प्रसन्न रहती है

१. अच्छे कुल में उत्पन्न होना।
२. अच्छे कुल में उत्पन्न होकर अच्छे कुल में विवाहित होना।
३. बिना सौत के रहना।
४. पुत्रवती होनी।
५. स्वामी को वश में रखना।

- इन ऐश्वर्यों की प्राप्ति पुण्य कर्मों से बतलाई गई है।

श्रद्धा, शील, विद्या, त्याग और प्रज्ञा को स्त्रियों की उन्नति, प्रसन्नता एवं स्वास्थ्य का कारण कहा हैं जीवहिंसा, चोरी, व्यभिचार, झूठ और सुरा-मद्यपान से विरत स्त्री को पुण्य कमाने वाली एवं इन दुर्गुणों से युक्त स्त्री को दुर्गति वाली कहा गया है।[८]

-स्त्रियों में असुरक्षा की बात हमेशा रही है, उस समय भी अधिक स्त्रियों वाले कुलों को डाकू लूट लिया करते थे। व्यभिचार को भीषण अपराध कहा। स्त्री को ब्रह्मचर्य का मल माना जाता था-

इत्थी मलं ब्रह्मचरियस्स, एत्थायं सज्जतेपजा।[९]

इसी कारण भगवान बुद्ध संघ में स्त्रियों का प्रवेश नहीं करना चाहते थे उन्होंने भिक्षुणियों के लिए आठ गुरुधर्मों का निर्देश किया।

आठ गुरुधर्म- यद्यपि बुद्ध को नारियों के लिए संघ में प्रवेश देने का विधान करना पड़ा किन्तु उसके पूर्व उन्होंने आठ ऐसे नियम बना दिए जिसके कारण भिक्षुणी का स्तर भिक्षु

की अपेक्षा निम्न हो गया। चुल्लवग्ग में इन्हें आठ गुरुधर्मों के नाम से कहा गया है, क्योंकि इनका पालन करना प्रत्येक भिक्षुणी के लिए अनिवार्य था। गुरु अर्थात् भारी तथा इनका कोई अपवाद नहीं था। वे गुरुधर्म इस प्रकार हैं-

१. सौ वर्ष की भी उपसम्पन्न भिक्षुणी को उसी दिन के उपसम्पन्न भिक्षु के लिए अभिवादन, प्रत्युत्थान (भिक्षु को देखकर खड़ा होना), अंजलि जोड़ना, कुशल समाचार आदि पूछना चाहिए।

२. भिक्षुणी को भिक्षुहीन आवास में वर्षावास नहीं करना चाहिए।

३. प्रति आधे मास भिक्षुणी को भिक्षु-संघ से उपोसथ की तिथि एवं उपदेश का समय पूछना चाहिये।

४. वर्षावास कर चुकने पर भिक्षुणी को भिक्षु-भिक्षुणी-दोनों संघों के समक्ष देखे, सुने एवं जाने गए दोषों की प्रवारणा करनी चाहिए अर्थात् यह पूछना चाहिए कि क्या उनके ऊपर कोई दोष देखा, सुना या जाना गया है।

५. गम्भीरदोष से युक्त भिक्षुणी को दोनों संघों के समक्ष पक्षमानत्व करना चाहिए।

६. दो वर्षों में ६ नियमों को सीखने वाली शिक्षमाणा को दोनों संघों से उपसम्पदा ग्रहण करनी चाहिए।

७. भिक्षुणी को भिक्षु से किसी प्रकार का विद्वेष या दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिए।

८. भिक्षुणी को भिक्षु से अपशब्द नहीं कहने चाहिए।

इन आठ गुरुधर्मों का निरूपण कर बुद्ध ने संघ की प्रभुसत्ता भिक्षुओं के हाथ में दे दी। अंगुत्तरनिकाय के अनुसार स्त्री सम्यक् सम्बुद्ध नहीं हो सकती थी।[१०]

इस प्रकार साररूपेण निम्न बिन्दु उपस्थित होते हैं-

भगवान बुद्ध ने निर्वाण-प्राप्ति में स्त्री एवं पुरुष के भेद की बात नहीं की। स्रोतापत्ति, सकृतागामी, अनागामी एवं अर्हत् की प्राप्ति में कोई बाधा नहीं बतलाई। भगवान ने सशर्त आठ गुरुधर्मों के द्वारा स्वतन्त्र भिक्षुणी संघ बनवाया।

थेरीगाथा के माध्यम से भिक्षुणियों की सफलता का पता चलता है।

उस युग की गणिकाओं के जीवन को बदलने के लिए भगवान बुद्ध ने महत्त्वपूर्ण कार्य किए।

-आनन्द के बार-बार आग्रह पर भ. बुद्ध ने भिक्षुणीसंघ की स्वतन्त्र स्थापना की पर साथ ही स्पष्ट कह दिया कि मेरा यह शासन यदि एक हजार वर्ष चलता, अब पांच सौ वर्ष ही चलेगा अर्थात् संघ की आयु आधी हो जाएगी।

- महायान से विकसित वज्रयान एवं तन्त्रयान साधना में स्त्रियों की प्रधानता हो गई। तान्त्रिक साधना में सिद्ध इनका सहयोग लेते थे। इस तरह उत्तर बौद्ध साहित्य में नारी का स्थान साधना में आवश्यक हो गया।

जैन साहित्य में नारी का स्थान एवं योगदान

प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने स्वयं अपनी पुत्रियों ब्राह्मी और सुन्दरी को लिपिशास्त्र व अंकगणित का ज्ञान दिया। भगवान ऋषभदेव द्वारा दिए गए ज्ञान के प्रकाश को सर्वप्रथम उनकी पुत्रियों ने ही ग्रहण किया।

जैन परम्परा ने नारी को उसका खोया हुआ सम्मान दिलाया और कहा कि नारी को पुरुष से हेय समझना अज्ञान, अधर्म एवं अतार्किक है। महिला अपने असीम मातृप्रेम से पुरुष को प्रेरणा एवं शक्ति प्रदान कर समाज का सर्वाधिक हित-साधन तथा वासना, विकार और कर्म-जाल को काटकर मोक्ष प्राप्त कर सकती है। भगवान महावीर ने चतुर्विध संघ की स्थापना की- मुनि-आर्यिका,श्रावक-श्राविका। चारों को तीर्थ कहा और चारों को मोक्षमार्ग का पथिक बताया। श्रमणसंघ का नेतृत्व इन्द्रभूति के हाथ में और साध्वी संघ का नेतृत्व चन्दनबाला के हाथ में था। पुष्प चूला, सुनन्दा, रेवती, सुलसा नामक अन्य साध्वियां प्रमुख थी।

महावीर ने दासी-प्रथा का विरोध कर उन्हें भी दीक्षा देने का विधान रक्खा और निर्भयतापूर्वक नारी जागरण का बिगुल बजाया एवं सतीप्रथा का भी विरोध किया। भ. महावीर के पूर्व तीर्थंकरों ने भी स्त्रियों को पुरुषों के समान ही समान अधिकार दिए।[11]

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार ऋषभदेव की माता मरुदेवी ने हाथी पर बैठे-बैठे ही कैवल्य प्राप्त किया। २२वें तीर्थंकर मल्लीदेवी ही थी।

जैन साहित्य में महिलाओं के विभिन्न रूपों को इस प्रकार समझ सकते हैं-

आदर्श माता के रूप में- नारी के हृदय को सागर की उपमा दी गई है असीमित जल की तरह असीम वात्सल्य पुत्र के प्रति रहता है।[12]

माता मरुदेवी ने ऋषभदेव को, माता त्रिशला ने महावीर को, माता कौशल्या ने श्रीराम को, माता देवकी ने श्रीकृष्ण को, माता अंजना ने हनुमान को, माता सीता ने लव-कुश को, माता रुक्मिणी ने प्रद्युम्नकुमार को, माता धारिणी ने जम्बूकुमार जैसे पुत्ररत्नों को जन्म देकर संसार को यह बता दिया कि नारी अबला होकर भी सबलों को जन्म देने वाली होती है। पद्मपुराण में कहा गया है कि यदि पत्नी अनुकूल है तो स्वर्ग की क्या आवश्यकता और प्रतिकूल है तो नरक को जाने की क्या जरूरत वह तो वैद्यतुल्य दुःखों को दूर करने वाली होती है-

न च भार्या समं किंचित् विद्यते भिषकोमतम्।
औषधं सर्वदुःखेषु सत्यमेतम् ब्रवीमि ते।

आदर्शपत्नी के रूप में -

'भार्या धर्मानुकूला' मछली और पानी के सम्बन्ध की तरह पति-पत्नी का सम्बन्ध है। महारानी चेलना ने राजा श्रेणिक को धर्मबोध कराया। मैनासुन्दरी ने पति का कुष्ठरोग दूर किया, सती सीता, महारानी दमयन्ती, रानी द्रौपदी आदि अनेक राजबधुएं पति-सेवा में ही अपना सुख मानकर उनको साथ दुःख उठाने को भी तत्पर हीं।

नास्ति भार्या समा बन्धुर्नास्ति भर्या समागतिः।
नास्ति भार्या समो लोक सहायो धर्मसंग्रहो।।

धर्मपथानुगामी नारी के रूप में धर्मपथानुगामी तथा शीलधर्म की रक्षार्थ नारी ने अपने पति के प्रति अनन्य श्रद्धाभाव रखा। अरिष्टनेमि की पत्नी राजमती इसका अनन्य उदाहरण है।

कुशल शासिका के रूप में-

जैनधर्म में २४ तीर्थंकरों के विशाल साध्वी समुदाय का नेतृत्व २४ नारियों ने ही किया है। प्रथम तीर्थंकर के समय ब्राह्मी थी और अन्तिम तीर्थंकर महावीर के शासन में चन्दनबाला उदाहरण स्वरूप-चन्दना ने महासती मृगावती को उपालम्भ दिया जिसके फलस्वरूप दोनों ने ही आर्यिका दीक्षा ली।

अमरचन्द्रसूरि ने नारी के विषय में कहा है-

अस्मिनसारे संसारे सारं सारंगीलोचना
यत्कुक्षि प्रभावना एता महावीर भवादृशाः।।

अर्थात्! इस असार संसार में सारंग लोचन वाली स्त्री ही सार है क्योंकि हे महावीर! उसकी कुक्षि से तुम जैसे नर-रत्नों का जन्म हुआ। तीर्थंकर की माता को जगत्-जननी कहा जाता है। तीर्थंकर के जन्मोत्सव के समय जब इन्द्र देव इस मनुजलोक में आते हैं तो वे भी सर्वप्रथम उनकी माता को ही नमन करते है। ऋषभदेवादि चौबीस तीर्थंकर एवं शलाकापुरुषों को जन्म देने वाली नारी ही है।

धर्मोपदेशिका के रूप में-

यूं तो नारी माता के रूप में उपदेशिका/शिक्षिका रही ही है किन्तु आत्मसाधना के मार्ग में भी नारी आत्मकल्याण ही नहीं करती अपितु अपने परिवार एवं भव्य जीवों को भी आत्मसाधना के पथ पर बढ़ाने में सहायक होती है। यथा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी एवं सुन्दरी के उद्‌बोधन से ही बाहुबली नम्रीभूत हुए और ज्यों ही उन्होंने चरण-न्यास किया वे केवलसूर्य से प्रभासित हो गए। ठीक इसी तरह का उपदेश साध्वी राजमति ने रथनेमि मुनि को भोगों की ओर मुड़ते देखकर दिया था।[13]

शान्ति की अग्रदूत नारी के रूप में-

युद्धरत दो राजा, जो भाई-भाई थे किन्तु इस बात से अनजान थे। युद्धभूमि के मैदान में जाकर मदनरेखा ने वस्तुस्थिति से अवगत कराकर शान्ति की शहनाई बजवा दी। ऐसे अनेक उदाहरण है। महासती पद्मावती ने पिता-पुत्र को युद्ध से विरत किया।

मेरु सी अकम्प श्रद्धावती-

नारी श्रद्धा की खान है। राजगृही निवासी सुलक्षा के हृदय में महावीर के प्रति अटूट श्रद्धा है। अनेक ऋद्धि का धारी अम्बड़ संन्यासी अनेक प्रकार के रूप बनाकर सुलक्षा की श्रद्धा की परीक्षा करता है परन्तु वह वीतरागवाणी के प्रति अटूट श्रद्धा से विचलित नहीं होती।

सेवा और सहानुभूति के क्षेत्र में स्त्री का महत्त्वपूर्ण योगदान है। दुर्व्यसनों से बचाने में महिलाओं का महत्त्वपूर्ण हाथ है। महासतियां प्रेरणास्रोत होती है।

संदर्भ-संकेत

१. वूमेन अण्डर प्रिमिटिव बुद्धिज्म, संयुत्तनिकायपालि, पृ. १६६
२. संयुत्तनिकाय, पृ. ८५
३. संयुत्तनिकाय, पृ. ५५
४. वही, पृ. ८
५. वही, पृ. ३६
६. वही, पृ. २१२
७. वही पृ. २४२
८. संयुत्तनिकाय पालि, पृ. १७०
९. वही, पृ. ३६,
१०. अंगुत्तरनिकाय, १/१६
११. जीत अभिनन्दन ग्रंथ मद्रास, पृ. १३३
१२. साध्वीरत्न पुष्पवती अभिनंदन ग्रन्थ, पृ. २४७
१३. साध्वीरत्न पुष्पवती अभिनंदन ग्रंथ, पृ. २५२

दृष्टव्य-

संयुत्तनिकाय पालि एक अध्ययन - डॉ. विजय कुमार जैन
जैन एवं बौद्ध आगमों में नारी जीवन-डॉ. कोमल चन्द जैन,
प्रकाशक-श्री सोहनलाल जैन प्रचारक समिति, अमृतसर, १६६७



जैनदर्शन एवं बौद्धदर्शन में मोक्ष/निर्वाण

निर्वाण या मोक्ष भारतीय दर्शन का केन्द्र-बिन्दु है। यह भारतीयों के लिए एकमात्र सार और एकमात्र लक्ष्य है। भारतीय दर्शन की उत्पत्ति, विकास जीवन के सबसे कठोर सत्य दुःख से होती है। जीवन के दुःखों को दूर करना दर्शन का लक्ष्य है। मोक्ष और मुक्ति शब्द क्रमशः मोक्ष और मुच् धातु से व्युत्पन्न होते हैं, जिनका अर्थ स्वतंत्र होना या छुटकारा पाना है। इस प्रकार भारतीय दर्शन में मोक्ष का अर्थ जीवन-मरण के चक्र अर्थात् सभी प्रकार के सांसारिक दुःखों से छुटकारा पाना है।[1]

(क) बौद्ध दर्शन में निर्वाण-

बौद्ध परम्परा में इसी परम-लक्ष्य मोक्ष को निर्वाण कहा गया है। निर्वाण का शाब्दिक अर्थ वाण से बाहर निकलना है।[2] 'वाण' तृष्णा या तन्द्रा को कहते हैं। निर्वाण एक ऐसी स्थिति है, जिसमें सभी तृष्णाओं का अन्त हो जाता है। तृष्णा के निरोध से परम पद निर्वाण की प्राप्ति होती है।[3] पाँच स्कन्ध संस्कृत धर्म है। निर्वाण असंस्कृत धर्म है। निर्वाण अजात, असमुत्पन्न, अशोक, विरजपद, निरोध, संस्कारोपशम और सुख कहा गया है।[4] निर्वाण नहीं है, ऐसा नहीं कहना चाहिए। भव और जरामरण के अभाव से वह नित्य है, अशिथिल-पराक्रम सिद्ध, विशेष ज्ञान से प्राप्त किए जाने से वह सर्वज्ञ के वचन तथा परमार्थ से निर्वाण है।[5]

सोपाधिसेस निर्वाण-

जिनसे कर्म और क्लेश उत्पन्न होते हैं, जिनमें कर्म और क्लेश आश्रय ग्रहण करते हैं, वे उपाधि हैं। अर्हत् व्यक्ति के पाँच स्कन्ध ही उपाधि शेष है। पुराने कर्मों के विपाक के रूप में उनकी स्थिति तब तक बनी रहती है या उनकी धारा का प्रवाह तब तक चलता रहता है, जब तक आयु का क्षय नहीं होता।[6]

निरुपाधिसेस निर्वाण-

जब अर्हत् व्यक्ति का आयु क्षय, मरण हो जाता है, तब उसके सभी प्रकार के नामधर्मों की सन्तति तथा रूप धर्मों की सन्तति सर्वदा के लिए निरुद्ध हो जाती है। उपाधि कहलाने वाले पांच स्कन्धों का अभाव वह निर्वाणधातु अनुपाधिशेष निर्वाण है।

स्थविरवाद परम्परा में निर्वाण-

स्थविरवादी परम्परा के अनुसार भिक्षुओं की प्रव्रज्या एवं ब्रह्मचर्य पालन का परम उद्देश्य निर्वाण था।[7] निर्वाण या मुक्ति के सम्बन्ध में भारतीय दार्शनिकों में वैमत्य है।[8] बौद्ध परम्परा में भी अनेक विचारधाराएं विकसित हुई हैं।[9]

संयुत्तनिकाय के असंखत संयुत्त में निर्वाण को रागक्षय, द्वेषक्षय एवं मोहक्षय बतलाते हुए असंस्कृत, अन्त, अनास्रव, सत्य, पार, निपुण, सुदुर्दर्श, अजर्जर, ध्रुव, अपलोकित, अनिदर्शन, निष्प्रपंच, शान्त, अमृत, प्रणीत, शिव, क्षेम, तृष्णाक्षय, आश्चर्य, अदभुत, निर्दुःख, निर्दुःख धर्म, निर्वाण, निर्द्वेष, विराग, शुद्धि, मुक्ति, अनालय, द्वीप, लेण, त्राण एवं शरण कहा है।[१०]

आपणसुत्त में सभी व्याधियों से मुक्ति, तृष्णाक्षय एवं निरोध को निर्वाण कहा है और बतलाया है कि इस संसार का अग्र जाना नहीं जा सकता, पूर्वकोटि मालूम नहीं होती। अविद्या में पड़े तृष्णा के बन्धन से बंधे, आवागमन में संसरण करते जीवों के अविद्या के निरोध से सभी संस्कार दब जाते हैं, सभी उपाधियों से मुक्ति हो जाती है। इस प्रकार मुक्ति-तृष्णाक्षय-विराग-निरोध निर्वाण सिद्ध होता है।[११]

निमोक्खसुत्त में निर्वाण को प्राणियों का निमोक्ख, पमोक्ख, विवेक कहा गया है। इस स्थिति में तृष्णामूलक बन्धनों का बिल्कुल क्षय, संज्ञा और विज्ञान का मिटना, वेदनाओं का निरोध और शान्त स्थिति बतलाई गई है।[१२] निर्वाण को रागक्षय, द्वेषक्षय, मोहक्षय, भव का निरोध,[१३] प्राणियों का निमोक्ख, पमोक्ख, विवेक[१४] एवं अनास्रव कहा है।[१५]

निर्वाण की स्थिति के सम्बन्ध में कहा गया है कि निर्वाण भय से शून्य है।[१६] निर्वाण में जल, पृथ्वी, अग्नि और वायु प्रतिष्ठित नहीं होते, धारा रुक जाती है, भंवर चक्कर नहीं काटता तथा नाम और रूप दोनों विरुद्ध हो जाते हैं।[१७] ब्रह्मयाचना सुत्त में कहा गया है कि सभी संस्कारों का शमन, सभी उपाधियों से मुक्ति, तृष्णाक्षय, विराग, निरोध वाला 'निर्वाण' है।[१८]

निर्वाण के साक्षात्कार के सम्बन्ध में कहा गया है कि चेतन और संकल्प से मुक्ति प्राप्त होती है तथा दुःख समूह रुक जाता है। चेतना और संकल्प से किसी काम में लगने की प्रवृत्ति होती है और लग जाता है। लग जाने से विज्ञान की स्थिति का आलम्बन होता है। विज्ञान के बने रहने, बढ़ते रहने से भविष्य में बार-बार जन्म होता है। भविष्य में जन्म से जरामरण, शोक परिदेव दुःख दौर्मनस्य उत्पन्न होता है। इसके विपरीत जो चेतना और संकल्प नहीं करता वह किसी काम में नहीं लगता, उसका सारा दुःख समूह रुक जाता है।[१९]

सम्यक् दृष्टि को निर्वाण की ओर ले जाने वाला कहा गया है।[२०] बुद्ध, धर्म एवं संघ में श्रद्धा तथा शील पालन को निर्वाण के लिए उदयगामी मार्ग कहा है।[२१] अनित्यता को समझने से निर्वाण की प्राप्ति बतलाई गई है।[२२]

असंखत संयुत्त में आर्य अष्टांगिक मार्ग, सात सम्बोध्यंग, चार स्मृति प्रस्थान, पांच इन्द्रिय, पांच बल, चार सम्यक् प्रधान, चार ऋद्धिपाद, कायगत स्मृति, समथ

विपश्यना, समाधि एवं ध्यान को निर्वाण गामी मार्ग बताया गया है।[२३]

वैभाषिक मत में निर्वाण-

निर्वाण को प्रतिसंख्या निरोध कहा है। अर्थात् विशुद्ध प्रज्ञा के सहारे सांसारिक साम्रव धर्मों तथा संस्कारों का जब अन्त हो जाता है तब निर्वाण कहलाता है।[२४] निर्वाण नित्य, असंस्कृत धर्म, स्वतंत्र सत्ता पृथक्भूत सत्यपदार्थ है।[२५] वैभाषिकों के मत में निर्वाण क्लेशाभाव है परन्तु अभाव होने पर भी वह सत्तात्मक पदार्थ हैं। भाव पदार्थ के समान अभाव भी स्वतन्त्र पदार्थ था।

सौत्रान्तिक मत में निर्वाण-

निर्वाण को विशुद्ध ज्ञान के द्वारा उत्पन्न होने वाले भौतिक जीवन का चरम निरोध मानते थे। निर्वाण के अनन्तर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता। नितान्त अभावात्मक मानते हैं, अर्थात् न कुछ जीवन शेष रहता है न कोई चेतना।[२६]

सौन्दरनन्द में इसे इस प्रकार समझाया गया है -

दीपो यथा निवृत्तिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम्।।
एवं कृती निवृत्तिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम्।।

महायान परम्परा में निर्वाण-

हीनयान में नैरात्म्य के ज्ञान से केवल क्लेशावरण का क्षय होता है। दूसरा आवरण ज्ञेयावरण है।

सर्वज्ञता की प्राप्ति के लिए इन दोनों आवरणों क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण का प्रहाण नितान्त आवश्यक है। शून्यता का ज्ञान होने से दूसरे प्रकार के आवरण का भी नाश होता है। हीनयान में अर्हत् पद की प्राप्ति चरम लक्ष्य है। महायान में बुद्धत्व प्राप्ति जीवन का उद्देश्य है। इसी उद्देश्य की भिन्नता के कारण निर्वाण की कल्पना में भेद है।

नागार्जुन माध्यमिक कारिका के पच्चीसवें परिच्छेद में निर्वाण की परीक्षा करते हुए कहते हैं कि-यह न उच्छिन्न पदार्थ न है शाश्वत, न तो यह निरुद्ध है न उत्पन्न, यह दोनों से भिन्न है-

अप्रहीणमसम्प्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम्।
अनिरुद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाणमुच्यते।।

अर्थात् न तो राग के समान प्रहाण हो सकता है, न सात्विक जीवन के समान प्राप्ति से सम्भव है।

(ख) जैन दर्शन में मोक्ष/निर्वाण-

उत्तराध्ययनसूत्र के सन्दर्भ के आधार पर डॉ. सागरमल जी जैन ने मोक्ष को कारण और निर्वाण को कार्य बताया है।[२७] निर्वाण-निःशेषेण वानं गमनं निर्वाणम्। मोक्ष शब्द की उत्पत्ति मुच् धातु से हुई है। मोक्ष, बहिःविहार, सिद्धलोक, आत्मवसति, अनुत्तगति, प्रधानगति, वरगति ओर सुगति, उर्ध्वादिशा, दुरारोह, अपुनरावृत्त और शाश्वत, अव्याबाध, लोकोत्तमोत्तम कहा है।[२८] द्रव्यमोक्ष- शुद्ध रत्नत्रय की साधना से अष्ट कर्मों की आत्यान्तिकी निवृत्ति द्रव्य मोक्ष है। भावमोक्ष-रागादि भावों की निवृत्ति भावमोक्ष है।

कथंचित् भाव-लिंग से मोक्ष होता है क्योंकि उसमें द्रव्य लिंग की भी अपेक्षा रहती है, कथंचित द्रव्य-लिंग से मोक्ष होता है क्योंकि उसमें भाव लिंग की भी अपेक्षा रहती है, कथंचित् दोनों लिंगों से मोक्ष का कारण अवक्तव्य है क्योंकि एकसाथ दोनों का कथन नहीं हो सकता। कथंचित् मोक्ष का कारण भावलिंग है तथा अवक्तव्य भी है, कथंचित मोक्ष का कारण द्रव्यलिंग भी है तथा अवक्तव्य भी है और कथंचित् मोक्ष का कारण द्रव्य-लिंग, भाव-लिंग दोनों हैं तथा अवक्तव्य भी है।

आयु के अन्त में उसका शरीर काफूरवत् उड़ जाता है और वह स्वाभाविक ऊर्ध्वगति के कारण लोकशिखर पर जा विराजते हैं, जहाँ वह अनन्तकाल तक अनन्त अतीन्द्रिय सुख का उपभोग करते हुए अपने चरम शरीर के आकार रूप से स्थिर रहते हैं और पुनः शरीर धारण करके जन्म-मरण के चक्कर में कभी नहीं पड़ते। ज्ञान ही उनका शरीर होता है। जैनदर्शनकार उसके प्रदेशों की सर्वव्यापता स्वीकार नहीं करते हैं, न ही उसे निर्वाण व शून्य मानते हैं। उसके स्वभावभूत अनन्त ज्ञान आदि आठ प्रसिद्ध गुण हैं। जितने जीव मुक्त होते हैं, उतने ही निगोद राशि से निकलकर व्यवहार राशि में आ जाते हैं, इससे लोक जीवों से रिक्त नहीं होता है।

तत्त्वार्थ सूत्र में मोक्ष का लक्षण किया गया है कि-बन्ध हेतुओं के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षण होना ही मोक्ष है।[२९] सर्वार्थसिद्धि में कहा गया है कि जब आत्मा कर्ममल (अष्टकर्म), कलंक (राग, द्वेष, मोह) और शरीर को अपने से सर्वथा जुदा कर देता है। तब उसके जो स्वाभाविक ज्ञानादि गुणरूप ओर अव्याबाध सुखरूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है उसे मोक्ष कहते हैं।[३०] राजवार्तिक में कहा गया है कि 'मोक्ष असने' इत्येतस्य घञ् भाव साधनो मोक्षणं मोक्षः आसनं क्षेपणमित्यर्थः, स आत्यन्तिकः सर्वकर्म निक्षेपो मोक्ष इत्युच्यते।

भावमोक्ष, केवलज्ञान की उत्पत्ति, जीवन्मुक्त, अर्हन्तपद ये सब एकार्थवाचक है।[३१] संक्षेप में कहा जा सकता है कि जिनके अष्टकर्म (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय,

वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र एवं अन्तराय) नष्ट हो गए हैं, शरीर रहित हैं, अनन्त सुख व अनन्त ज्ञान में आसीन हैं और परम प्रभुत्व को प्राप्त हैं ऐसे सिद्ध भगवान् मुक्त हैं।

णट्ठकम्मसुद्धा असरीरणं तसोक्खणाणट्ठा।

परमपहुत्तं पत्ता जे ते सिद्धा हु खलु मुक्का।। -नयचक्र वृ./१०७

मोक्ष अभावात्मक नहीं बल्कि आत्मलाभ रूप है। जिनके जीव स्वभाव नहीं है, और सर्वथा अभाव भी नहीं है, वे देहरहित व वचनगोचरातीत सिद्ध हैं।

जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तस्स।

ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमदीदा।। - पंचास्तिकाय-२५

तुलनात्मक अध्ययन-

जैन एवं बौद्ध परम्परा में मोक्ष, निर्वाण एक ही अर्थ में प्रयुक्त है। जैन परम्परा आत्मवादी है बौद्ध परम्परा अनात्मवादी। इस विरोध के बावजूद दोनों परम्पराओं में निर्वाण एवं मोक्ष में बहुत समानता है। मोक्षमार्ग में जैन परम्परा में रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र है वहीं बौद्ध परम्परा में आर्य अष्टांगिक मार्ग है तथा शील, समाधि, प्रज्ञा है।

पात्रों के सन्दर्भ में भी एक विवाद रहा है वह है- स्त्री मुक्ति के सन्दर्भ में। दिगम्बर जैन परम्परा स्त्री पर्याय में मुक्ति नहीं मानती,[३२] जबकि श्वेताम्बर परम्परा में इस तरह का कोई भेद नहीं है। बौद्ध परम्परा में भी साधक की चार अवस्थाएं वर्णित हैं- स्रोतापत्ति, सकृदागामी, अनागामी एवं अर्हत्। इसमें स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं हैं लेकिन संघ में भिक्षुणियों का स्थान भिक्षुओं के समकक्ष कभी नहीं हो सका।

संदर्भ-संकेत

१. भारतीय दर्शन में मोक्ष चिन्तन, पृ. २ (भूमिका)

२. पालि इंगलिश डिक्सनरी, पृ. ३६२-३६५

३. संयुत्तनिकाय १, पृ. १२१

४. इतिवुत्तक ३७-३८, खुद्दकनिकाय

५. विसुद्धिमग्ग भाग-एक, ११६६-१२१

६. विसुद्धिमग्ग, १६/१७३

७. 'निव्वान गधं हि राध, ब्रह्मचरियं वुस्सति,
निब्बान परायनं निब्बान परियोसानं' ति। -संयुत्त. ३, पृ. ४०३

८. द्रष्टव्य- भारतीय दर्शन में मोक्ष चिन्तन : एक अध्ययन

९. द्रष्टव्य- दि कान्सेप्सन आव बुद्धिस्ट निर्वाण

१०. 'असंखतं अनतं अनासवं, सच्चं च पारं निपुणं सुदुद्दसं।
अजज्जरं धुवं अपलोकितं, अनिदस्सनं निप्पपंच सन्तं।।

अमतं प्रणीतं च सिवं च खेमं, तण्हाक्खयो अच्छरियं च अब्भुतं।
अनीतिकं अनीतिकधम्मं, निब्बानमेतं सुगतेन देसितं।।
अव्यापज्जो विरागो च, सुद्धि मुत्ति अनालयो।
दीपो लेणं च ताणं च, सरणं च परायनं ति।। संयुत्तनिकाय ४, पृ. ३२०

११. वही ५, पृ. १६५-६७
१२. संयुत्तनिकाय १, पृ. ४
१३. वही, ५, पृ. ६८
१४. वही, १, पृ. ४
१५. परिनिब्बन्ति अनासवा ति।। वही, ४, पृ. ११६
१६. अभया नाम सा दिसा। वही, १, पृ. ३१
१७. यत्थ आपो च पठवी, तेजो वायो न गाधति।
अतो सरा निवत्तन्ति, एत्थ वहं न वत्तति।
एत्थ नामं च रूपं च, असेसं उपरुज्झाति ति।। वही, १, पृ. १६
१८. इदं पि खो ठानं दुद्दसं यदिदं सब्बसंखरसमथो सब्बूपधिपटिनिस्सग्गो तण्हाक्खयो विरागो निरोधो निब्बानं। वही, १, पृ. १३७
१९. संयुत्तनिकाय २, पृ. ५६-५८
२०. सम्मादिट्ठि निब्बानपोणा निब्बानपब्भारा ति। वही, ४, पृ. १६२
२२. वही, ५, पृ. ३०७
२२. वही, ४, पृ. ६६-७०
२३. वही, ४, पृ. ३१२-१४
२४. प्रतिसंख्यानमनास्रवा एव प्रज्ञा गृह्यते तेन प्रज्ञाविशेषेण प्राप्यो निरोधः इति प्रतिसंख्या निरोधः यशोमित्र-अभिधर्मकोश व्याख्या पृ. १६
२५. द्रव्यं सत् प्रतिसंख्यानिरोधः- सत्यचतुष्टय-निर्देश-निर्दिष्टत्वात् मार्ग सत्यवत् इति वैभाषिकाः। यशोमित्र-अभिधर्मकोश व्याख्या पृ. १६
२६. बल्देव उपाध्याय, बौद्धदर्शन मीमांसा पृ. १३०
२७. उत्तराध्ययन २८/३०, डॉ. सागरमल जी जैन
जैन बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों की तुलना. भाग-१/४१५,
२८. बौद्धधर्म एवं जैनधर्म, महेन्द्रनाथ सिंह पृ. १०१
२९. बन्धहेत्वभाव निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्म विप्रमोक्षो मोक्षः। तत्त्वार्थसूत्र १०/२
३०. निरवशेषनिराकृत कर्ममल कलटस्याशरीरस्यात्मनोऽच्न्त्यिस्वाभाविकज्ञानादि गुणमव्याबाधसुखमात्यन्तिक मवस्थन्तरं मोक्ष इति। सर्वार्थसिद्धि १/१ उत्थानिका १/८
३१. पंचास्तिकाय/ता.पृ./१५०/२१६/१८
३२. "मोक्षहेतुर्ज्ञानादिपरमप्रकर्षः स्त्रीषु नास्ति।" स्त्रीणां मायाबाहुल्यमस्ति सचेलसंयमत्वाच्च न स्त्रीणां संयमः मोक्षहेतुः। बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहवत्वाच्चन स्त्रियो मोक्षहेतुसंयमवत्यः। नास्ति स्त्रीणां मोक्षः उत्कृष्टध्यानविकलत्वात्।।" - प्रमेयकमल मार्तण्ड २/३२८-३३४

• • •

परिशिष्ट-१ पच्चीस बुद्धों का विविध परिचय

१. बुद्ध का नाम	१. दीपंकर	२. कौण्डिय
२. कितने पूर्व	चार असं. एक लाख कल्प	दो असं. एक लाख कल्प
३. कल्प	सारमण्ड	सार
४. नगर	रम्यवती	रम्यवती
५. पिता	सुदेव	आनन्द
६. माता	सुमेधा	सुजाता
७. प्रासाद	हंस, क्रौंच, मयूर	सुचि, सुरुचि, शुभ
८. स्त्री	पद्मा	रुचि देवी
९. पुत्र	वृषभस्कन्ध	विजितसेन
१०. गृहीजीवन	दस हजार वर्ष	दस हजार वर्ष
११. गृहत्याग का वाहन	हाथी	रथ
१२. तपश्चर्या काल	दस मास	दस मास
१३. बोधिवृक्ष	पिप्पली	अश्वत्थ
१४. अग्रश्रावक	सुमंगल, तिष्य	भद्र, सुभद्र
१५. परिचारक	सागत	अनुरुद्ध
१६. अग्रश्राविका	नन्दा, सुनन्दा	तिष्या, उपतिष्या
१७. श्रावक सम्मेलन	तीन	तीन
१८. आयु	एक लाख वर्ष	एक लाख वर्ष
१९. ऊंचाई	अस्सी हाथ	अट्ठासी हाथ
२०. बोधिसत्त्व	सुमेघ	विजितावी राजा
२१. पारसी-पूरण-अवधि	X X	(सोलह असं. एक लाख कल्प)

१. बुद्ध का नाम	३. मंगल	४. सुमन
२. कितने पूर्व	दो असं. एक लाख कल्प	दो असं. एक लाख कल्प
३. कल्प	सारमण्ड	सारमण्ड
४. नगर	उत्तर	खेम
५. पिता	उत्तर	सुदत्त
६. माता	उत्तरा	सिरिमा
७. प्रासाद	यशमान्, रुचिमान्, श्रीमान्	चन्द्र, सुचन्द्र, वट्टंस
८. स्त्री	यशवती	वहंसिका
९. पुत्र	शिवल	अंनुपमा
१०. गृहीजीवन	नव हजार वर्ष	नव हजार वर्ष
११. गृहत्याग का वाहन	अश्व	हाथी
१२. तपश्चर्या काल	आठ मास	दस महीना
१३. बोधिवृक्ष	नाग वृक्ष	नागवृक्ष
१४. अग्रश्रावक	सुदेव, धर्मसेन	शरण, भावितत्त
१५. परिचारक	पालित	उदेन
१६. अग्रश्राविका	शिवला अशोका	सोणा, उपसोणा
१७. श्रावक सम्मेलन	तीन	तीन
१८. आयु	नब्बे हजार वर्ष	नंब्बे हजार वर्ष
१९. ऊंचाई	अट्ठासी हाथ	नब्बे हाथ
२०. बोधिसत्त्व	सुरुचि ब्राह्मण	अतुलनागराज
२१. पारसी-पूरण-अवधि	सोलह असं. एक लाख कल्प	X X

५. रेवत	६. शोभित	७. अनोमदर्शी
दो असं. एक लाख कल्प	दो असं. एक लाख कल्प	एक असं. एक लाख कल्प
सारमण्ड	सारमण्ड	वर
धन्यवती	सुधर्म	चन्द्रवती
विपुल	सुधर्न	यशवान्
विपुला	सुधर्मा	यशोधरा
सुदर्शन, रत्नग्घि, आवेल	कुमुद, नलिन, पद्म	श्री, उपश्री, वड्ढ
सुदर्शना	मनिला	सिरिमा
वरुण	सिंह	उपवाण
छः हजार वर्ष	नव हजार वर्ष	दस हजार वर्ष
रथ	प्रासाद	शिविका
सात महीना	सात दिन	दस मास
नागवृक्ष	नागवृक्ष	अर्जुनवृक्ष
वरुण, ब्रह्मदेव	असम, सुनेत्र	निसम, अनोम
संभव	अनोम	वरुण
भद्रा, सुभद्रा	नकुला, सुजाता	सुन्दरी, सुमना
तीन	तीन	तीन
साठ हजार वर्ष	नब्बे हजार वर्ष	एक लाख वर्ष
अस्सी हाथ	अट्ठावन हाथ	अट्ठावन हाथ
अतिदेव ब्राह्मण	सुजात ब्राह्मण	यक्ष सेनापति
X X	चार असं. एक लाख कल्प	सोलह असं. एक लाख कल्प

८. पद्म	९. नारद	१०. पद्मोत्तर
एक असं. एक लाख कल्प	एक असं. एक लाख कल्प	एक लाख कल्प
वर	वर	सार
चम्पक	धन्यवती	हंसवती
असम	सुदेव	आनन्द
असमा	अनोमा	सुजाता
नन्दुत्तर, वसुत्तर, यशुत्तर	जित, विजित, अभिराम	नरवाहन, यशवाहन, वशवर्ती
उत्तरा	विजितसेना	वसुदत्ता
राम	नन्दुत्तर	उत्तर
दस हजार वर्ष	नव हजार वर्ष	दस हजार वर्ष
रथ	पैदल	प्रासाद
आठ मास	सात दिन	सात दिन
महासोण	महासोण	साल वृक्ष
साल, उपसाल	भद्रसाल, जितमित्र	देवल, सुजात
वरुण	वाशिष्ठ	सुमन
रामा सुरामा	उत्तरा, फाल्गुनी	अमिता, असमा
तीन	तीन	तीन
एक लाख वर्ष	नब्बे हजार वर्ष	एक लाख वर्ष
अट्ठावन हाथ	अठ्ठासी हाथ	अट्ठासी हाथ
सिंहराज	तपस्वी	जटिल
X X	चार असं. एक लाख कल्प	X X

११. सुमेध
तीस हजार कल्प
मण्ड
सुदर्शन
सुदत्त
सुदर्शना
सुचन्दन, कञ्चन श्रीवर्द्धन
सुमना
पुनर्वसु
नव हजार वर्ष
हाथी
पन्द्रह दिन
महानीप
शरण, सर्वकाम
सागर
रामा, सुरामा
तीन
नब्बे हजार वर्ष
अट्ठासी हाथ
उत्तर माणव
X X

१२. सुजात
तीस हजार कल्प
मण्ड
सुमंगल
उग्रत
प्रभावती
श्री, उपश्री, नन्द
श्री नन्दा
उपसेन
नव हजार वर्ष
अश्व
नव मास
महाबेगु
सुदर्शन, देव
नारद
नागा, नागसमाला
तीन
नब्बे हजार वर्ष
पचास हाथ
चक्रवर्ती राजा
X X

१३. प्रियदर्शी
एक सौ अट्ठारह कल्प
वर
अनोम
सुदिन्न
चन्दा
सुनिर्मित, विमल, गिरिगुहा
विमला
कञ्चनवेल
नव हजार वर्ष
रथ
छः मास
ककुध
पालित, सर्वदर्शी
शोभित
सुजाता, धर्मदिन्ना
तीन
नब्बे हजार वर्ष
अस्सी हाथ
काश्यप माणव
X X

१४. अर्थदर्शी
एक सौ अट्ठारह कल्प
वर
शोभित
सागर
सुदर्शना
अमर, गिरि, सुगिरिवाहन
विशाखा
सेल
दस हजार वर्ष
अश्व
आठ मास
चम्पक
शान्त, उपशान्त
अभय
धम्मा, सुधम्मा
तीन
दस हजार वर्ष
अस्सी हाथ
सुसीम तापस
X X

१५. धर्मदर्शी
एक सौ अट्ठारह कल्प
वर
शरण
शरण
सुनन्दा
अरज, बिरज, सुदर्शन
वीचिकोलि
पुष्यवर्द्धन
आठ हजार वर्ष
प्रासाद
सात दिन
बिम्बिजाल
पद्म, पुष्यदेव
सुनेत्त
सेमा सर्वनामा
तीन
दस हजार वर्ष
अस्सी हाथ
शक्र
X X

१६. सिद्धार्थ
चौरानवे कल्प
सार
वैभार
जयसेन
सुस्पर्शा
कोक, सुप्पल, कोकनद
सौमनस्या
अनुपम
दस हजार वर्ष
शिविका
दस मास
कर्णिकार
सम्बल, सुमित्र
रेवत
सिवली, सुरामा
तीन
एक लाख वर्ष
साठ हाथ
मंगल तापस
X X

१७. तिष्य
वानबे कल्प
मण्ड
क्षेम
जनसन्ध
पद्मा
गुहासेल, नारिसया, निसभ
सुभद्रा
आनन्द
सात हजार वर्ष
अश्व
आठ मास
असन वृक्ष
ब्रह्मदेव, उदय
संभव
स्पर्शा, सुदत्ता
तीन
एक लाख वर्ष
साठ हाथ
सुजात क्षत्रिय

X X

१८. पुष्य
बानवे कल्प
मण्ड
काशी
जयसेन
सिरिमा
गरुड़पक्ष, हंस, सुवर्णसार
कृशा गौतमी
अनुपम
नव हजार वर्ष
हाथी
छ मास
आमलक
सुरक्षित, धर्मसेन
सभिय
चाला, उपचाला
तीन
नब्बे हजार वर्ष
अट्ठावन हाथ
विजितावी क्षत्रिय

X X

१९. विपश्यी
इक्यानवे कल्प
सार
बन्धुमती
बन्धुमान्
बन्धुमती
नन्द, सुनन्द, सिरिमा
सुदर्शना
समवृत्तस्कन्ध
आठ हजार वर्ष
रथ
आठ मास
पाटली
खण्ड, तिष्य
अशोक
चन्द्रा, चन्द्रमित्रा
तीन
अस्सी हजार वर्ष
अस्सी हाथ
अतुल नागराज

X X

२०. शिखी
एकतीस कल्प
मण्ड
अरुणवती
अरुण
प्रभावती
सुचन्दक, गिरि वृषभ
सर्व कामा
अतुल
सात हजार वर्ष
हाथी
आठ मास
पुण्डरीक
अभिभू, संभव
खेमंकर
मखिला, पद्मा
तीन
सत्तर हजार वर्ष
सत्तर हाथ
अरिन्दम राजा

X X

२१. विश्वभू
एकतीस कल्प
मण्ड
अनुपम
सुप्रतीत
यशवती
रुचि, सुरुचि, रतिवर्द्धन
सुचिमा
सुप्रबुद्ध
छः हजार वर्ष
शिविका
छः मास
महा साल
सोण, उत्तर
उपशान्त
दामा, सुमाला
तीन
साठ हजार
साठ हाथ
सुदर्शन राजा

X X

२२. ककुसन्ध
वर्तमान कल्प
भद्रकल्प
क्षेम
अग्निदत्त
विशाखा
काम, कामवर्ण, कामसुधि
रोचिनी
उत्तर
चार हजार वर्ष
रथ
आठ मास
शिरीष
विधुर, संजीव
बुद्धिज
श्यामा, चम्पका
तीन
चालीस हजार वर्ष
चालीस हाथ
क्षेम राजा

X X

२३. कोणागमन	२४. काश्यप	२५. गौतम बुद्ध
वर्तमान कल्प	वर्तमान कल्प	वर्तमान कल्प (भद्रकल्प)
भद्रकल्प	भद्रकल्प	भद्रकल्प
शोभावती	वाराणसी	कपिलवस्तु
यज्ञदत्त	ब्रह्मदत्त	शुद्धोदन
उत्तरा	धनवती	महामाया
तुसित, संतुसित, संतुष्ट	हंस, यश, श्री नन्द	रम्य, सुरम्य, शुभ
रुचिगात्रा	सुनन्दा	यशोधरा
सार्थवाह	विजितसेन	राहुल
तीन हजार वर्ष	दो हजार वर्ष	उनतीस वर्ष
हाथी	प्रासाद	अश्व
छह मास	सात दिन	छह वर्ष
उदुम्बर	निग्रोध	अश्वत्थ
भीयश, उत्तर	तिष्य, भारद्वाज	उपतिष्य, कोलित
स्वस्तिज	सर्व मित्र	आनन्द
सुभद्रा, उत्तरा	अनुला, उरुवेला	क्षेमा, उत्पलवर्णा
तीन	तीन	धर्मचक्रप्रवर्तन, यावत् जीवन चारिका
तीस हजार वर्ष	बीस हजार वर्ष	एक सौ वर्ष
तीस हाथ	बीस हाथ	अठारह हाथ
पर्वत नामक राजा	ज्योतिपाल माणव	स्वयं बुद्ध थे
X X	X X	चार असं. एक लाख वर्ष

आधार ग्रन्थ-

निदानकथा, जातकट्ठकथा भूमिका, पृ. ७६-८४
सम्पादक तथा अनुवादक- डॉ. महेश तिवारी
चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी-१, १६७०



परिशिष्ट-२

चौबीस तीर्थंकरों का विविध परिचय

क्र.	तीर्थकरों के नाम	चिह्न	जन्मस्थान	काया	पितृनाम	मातृनाम	आयुष्य
१.	वृषभनाथ	बैल	अयोध्या	५०० धनुष्य	नाभिराजा	मरुदेवी	८४ लाख पूर्वायुष्य
२.	अजितनाथ	गज	अयोध्या	४५० धनुष्य	जितशत्रु	विजयसेना	७२ लाख पूर्वायुष्य
३.	सम्भवनाथ	घोड़ा	श्रावस्ती	४०० धनुष्य	जितारी	सुसेना	६० लाख पूर्वायुष्य
४.	अभिनंदनाथ	बन्दर	अयोध्या	३५० धनुष्य	संवर	सिद्धार्था	५० लाख पूर्वायुष्य
५.	सुमतिनाथ	चकवा	अयोध्या	३०० धनुष्य	मेघप्रभु	मंगला	४० लाख पूर्वायुष्य
६.	पद्मप्रभ	कमल	कौशाम्बी	२५० धनुष्य	धीरण	सुशीमा	३० लाख पूर्वायुष्य
७.	सुपार्श्वनाथ	साँथिया	बनारस	२०० धनुष्य	प्रतिष्ठित	पृथ्वी	२० लाख पूर्वायुष्य
८.	चन्द्रप्रभ	चन्द्रमा	चन्द्रपुरी	१५० धनुष्य	महासेन	सुलक्षण	१० लाख पूर्वायुष्य
६.	पुष्पदन्तनाथ	मगर	काकन्दी	१०० धनुष्य	सुग्रीव	रमा	२ लाख पूर्वायुष्य
१०.	शीतलनाथ	कल्पवृक्ष	महिलपुर	६० धनुष्य	दृढरथ	सुनन्दा	१ लाख पूर्वायुष्य
११.	श्रेयांसनाथ	गेडा	सिंहपुर	८० धनुष्य	विमल	विमला	८४ लाख पूर्वायुष्य
१२.	वासुपूज्यनाथ	भैंसा	चम्पापुरी	७० धनुष्य	वसुपूज्य	विजया	७२ लाख पूर्वायुष्य
१३.	विमलनाथ	सूकर	कम्पिला	६० धनुष्य	सुव्रतवर्मा	श्यामा	६० लाख पूर्वायुष्य
१४.	अनन्तनाथ	सेही	अयोध्या	५० धनुष्य	हरिषेण	सुरजा	५० लाख पूर्वायुष्य
१५.	धर्मनाथ	वज्र	रत्नपुर	४५ धनुष्य	भानु	सुव्रता	१० लाख पूर्वायुष्य
१६.	शान्तिनाथ	हिरण	हस्तिनापुर	४० धनुष्य	विश्वसेन	ऐरा	१ लाख पूर्वायुष्य
१७.	कुन्थुनाथ	बकरा	हस्तिनापुर	३५ धनुष्य	शूरराजा	श्रीमती	६५ हजार वर्षायुष्य
१८.	अरनाथ	मच्छ	हस्तिनापुर	३० धनुष्य	सुदर्शन	मित्रा	८० हजार वर्षायुष्य
१६.	मल्लिनाथ	कलश	मिथिला	२५ धनुष्य	कुंभ	प्रजावती	५५ हजार वर्षायुष्य
२०	मुनिसुव्रतनाथ	कछुआ	राजगृह	२० धनुष्य	सुमत्र	श्यामा	३० हजार वर्षायुष्य
२१	नमिनाथ	नीलकमल	मिथिला	१५ धनुष्य	विजयरथ	विपुला	१० हजार वर्षायुष्य
२२	नेमिनाथ	शंख	शौरीपुर	१० धनुष्य	समुद्रविजय	शिवादेवी	१ हजार वर्षायुष्य
२३.	पार्श्वनाथ	सर्प	बनारस	६ हाथ	अश्वसेन	वामादेवी	१०० वर्षायुष्य
२४.	महावीर	सिंह	कुण्डग्राम	७ हाथ	सिद्धार्थ	त्रिशला	७२ वर्षायुष्य

चौबीस तीर्थंकरों का विविध परिचय

गर्भ	जन्म	तप	केवलज्ञान	मोक्ष	मोक्ष स्थल
आषाढ़ वदी २	चैत्र वदी ६	चैत्र वदी ६	फाल्गुनवदी ११	माघ वदी १४	कैलाशपर्वत
ज्येष्ठ वदी ३०	माघ सुदी १०	माघ सुदी १०	पौष सुदी ११	चैत्र सुदी ५	सम्मेदशिखरजी
फाल्गुन सुदी ८	कार्तिक सुदी १५	आश्विन सुदी १५	कार्तिक वदी ४	चैत्र सुदी ६	सम्मेदशिखरजी
वैशाख सुदी ६	माघ सुदी १२	माघ सुदी १२	पौष सुदी १४	वैशाख सुदी ६	सम्मेदशिखरजी
श्रावण सुदी २	चैत्र सुदी ११	चैत्र सुदी ११	चैत्र सुदी ११	चैत्र सुदी ११	सम्मेदशिखरजी
माघ वदी ६	कार्तिक सुदी १३	कार्तिक सुदी १३	चैत्र सुदी १५	फाल्गुन वदी ४	सम्मेदशिखरजी
भाद्रपद सुदी ६	ज्येष्ठ सुदी २२	ज्येष्ठ सुदी १२	फाल्गुन वदी ६	फाल्गुन वदी ७	सम्मेदशिखरजी
चैत्र वदी ५	पौष वदी ११	पौष वदी ११	फाल्गुन वदी ७	फाल्गुन सुदी ७	सम्मेदशिखरजी
फाल्गुन वदी ६	मगसिर सुदी १	मगसिर सुदी १	कार्तिक सुदी २	अश्विन सुदी ८	सम्मेदशिखरजी
चैत्र वदी ८	माघ वदी १२	माघ वदी १२	पौष वदी १४	अश्विन सुदी ८	सम्मेदशिखरजी
ज्येष्ठ वदी ८	फाल्गुन वदी ११	फाल्गुन वदी ११	माघ वदी ३०	श्रावण सुदी १५	सम्मेदशिखरजी
आषाढ. वदी ६	फाल्गुन वदी १४	फाल्गुन वदी १४	भादो सुदी २	भादो सुदी १४	चम्पापुरी
ज्येष्ठ वदी १०	माघ सुदी ४	माघ सुदी ४	माघ सुदी ६	आषाढ़ वदी ६	सम्मेदशिखरजी
कार्तिक वदी १	ज्येष्ठ वदी १२	ज्येष्ठ वदी १२	चैत्र वदी ३०	चैत्र वदी ३०	सम्मेदशिखरजी
वैशाख सुदी ८	माघ सुदी १३	माघ सुदी १३	पौष सुदी १५	ज्येष्ठ सुदी ४	सम्मेदशिखरजी
भाद्र सुदी ७	ज्येष्ठ वदी १४	ज्येष्ठ वदी १४	पौष सुदी १०	ज्येष्ठ सुदी १४	सम्मेदशिखरजी
श्रावण वदी १०	वैशाख सुदी १	वैशाख सुदी १	चैत्र सुदी ३	वैशाख सुदी १	सम्मेदशिखरजी
फाल्गुनसुदी ३	मगसिर सुदी १४	मगसिर सुदी १०	कार्तिक सुदी १२	चैत्र वदी ३०	सम्मेदशिखरजी
चैत्र सुदी १	मगसिर सुदी ११	मगसिर सुदी ११	पौष सुदी २	फाल्गुन सुदी ५	सम्मेदशिखरजी
श्रावण वदी २	वैशाख वदी १०	वैशाख वदी १०	वैशाख वदी ६	फाल्गुन सुदी १२	सम्मेदशिखरजी
अश्विन वदी २	आषाढ़ वदी १०	आषाढ़ वदी १०	मगसिर सुदी ११	वैशाख वदी १४	सम्मेदशिखरजी
कार्तिक सुदी ६	श्रावण सुदी ६	श्रावण सुदी ६	आश्विन सुदी १	आषाढ़ सुदी ६	गिरनार पर्वत
वैशाख सुदी २	पौष वदी ११	पौष वदी ११	चैत्र वदी ४	श्रावण सुदी ७	सम्मेदशिखरजी
आषाढ़ सुदी ६	चैत्र सुदी १३	मगसिर वदी १०	वैशाख सुदी १०	कार्तिक वदी १५	पावापुरी

परिशिष्ट-३

शब्दानुक्रमणिका

• • •

लेखक-परिचय

नाम	-	डॉ० विजय कुमार जैन
पिता का नाम	-	स्व. श्री दादूलाल जैन
जन्मतिथि	-	1.07.1956
जन्म स्थान	-	बसौरा, जिला-पन्ना (म.प्र.)
शिक्षा	-	एम.ए., पी-एच.डी., आचार्य
शिक्षा संस्थाएं	-	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी एवं शांति निकेतन जैन संस्कृत विद्यालय, कटनी
विशेषज्ञता	-	पालि, बौद्धदर्शन एवं जैनविद्या
	-	50 शोधपत्र, 30 आलेख, 10 ग्रन्थ प्रकाशित लगभग 100 संगोष्ठियों में भाग लिया, सम्पादक- **श्रुत संवर्धिनी** (मासिक, जैन शिक्षा पत्रिका)

हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

प्रारम्भिक बौद्ध धर्मदर्शन - डॉ. विजयकुमार जैन
पालि सद्दधातु रूप संगहो - डॉ. विजयकुमार जैन
संस्कृत सूक्ति समुच्चय - डॉ. विजयकुमार जैन
(बौद्धदर्शन एवं चार्वाक खण्ड), दिल्ली संस्कृत अकादमी, प्रकाशन
पद्मपुराण अनुशीलन - डॉ. विजयकुमार जैन
श्रावकाचार सौरभ - डॉ. विजयकुमार जैन
संयुत्तनिकाय पालि-एक अध्ययन- डॉ. विजयकुमार जैन
अत्त दीपो भव - डॉ. विजयकुमार जैन
मांसाहार परिवर्तः - डॉ. विजयकुमार एवं डॉ० राका जैन
Sraman-Culture - डॉ. राका एवं डॉ० विजयकुमार जैन
संस्कृत सूक्ति समुच्चयं - डॉ. राका जैन
(जैन दर्शन खण्ड) दिल्ली संस्कृत अकादमी, प्रकाशन
जीवन्धर चम्पू सौरभ - डॉ. राका जैन
काव्य कमलांजलि - डॉ. राका जैन
सत्त्रयैकम् - डॉ. राका जैन

सम्पर्क सूत्र -
3/65, विकास खण्ड, गोमती नगर, लखनऊ
फोन : 0522-2300243



